

॥श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

### प्राक्कथन

श्रीमत्प्रभुचरणविरचित ‘श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः’ सबसे पहले नब्बे वर्ष पूर्व ‘पुष्टिभक्तिसुधा’ मासिक पत्रिका( वर्ष : ५। अंक : ८-९ )में श्रीमूलचन्द तेलीवालाने सम्पादित कर प्रकाशित करवाया था. सम्प्रति वि.सं.२०५७ में वड़ोदराके गो.श्रीचन्द्रगोपालजी द्वारा दुबारा भी यह प्रकाशित हुआ. इन दोनों प्रकाशित संस्करणों और तत्तद् ग्रन्थागारोंमें उपलब्ध होती मातृकाओंमें पाठभेद भी कुछ न कुछ तो दृष्टिगत होते ही हैं.

श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके अनुसार “वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते त्रितये त्रितयं वाच्यं” (त.दी.नि.१।६) दिशानिर्देशके अनुसार चेतनाचेतन वस्तुमात्रकी ब्रह्मोपादानकता या ब्रह्मात्मकता तो “ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा तत् त्वम् असि” (छान्दो.उप.६।८।७) श्रुतिवचनके बलपर स्वतःसिद्ध है. इसी तरह परमात्मता या सर्वान्तर्यामिता भी “तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्” – “यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो... यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्” – “उत्तमः पुरुषस्तु अन्यः परमात्मा” इति उदाहृतः यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्ययः ईश्वरः” (तैत्ति.उप.२।६ – बृह.उप.३।७।१५ – भग.गीता.१५।१७) इत्यादि श्रुतिस्मृतिवचनोंके आधारपर ब्रह्मके सृष्टिसंकल्पमात्रसे सिद्ध है. सृष्टिगत, किन्तु, जड़-चेतन रूपोंमें आनन्दधर्मरूप साहजिक ऐश्वर्यादि षड् भगवद्गुण अपने परिपूर्ण रूपमें प्रकट नहीं हो पाते. अतएव भागवतपुराण एवं महाप्रभु भी कहते हैं “युक्तं भगैः स्वैः इतरत्र च अश्रुवैः” – “ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं (ब्रह्म) जगतो अतिरिच्यतइति न तत्र आसक्तिः कर्तव्या. एकस्मिन्नपि पदार्थे सर्वलीलासहितो भगवान् अस्तीति च देशकालरूपः सन् देशकालवस्तुभ्यो व्यतिरिच्यते इति... सर्वं भगवान् अन्यथाप्रतीतिः मायया. सर्वत्र सर्वलीलासहितः सर्वदोषविवर्जितः इत्येतद् मतं... भगवतः” (भाग.पुरा.२।९।१६ – सुबो.२।९।३५-३६). अतः प्रश्न उठता है कि जागतिक किसी भी पदार्थकी भगवान्के रूपमें उपासना या आराधना कैसे उपपन्न हो

पायेगी ? अतएव धातु-शिलादिमें निर्मित भगवदाकार या तो निरे आकारमात्र हैं, ऐसे कि जहां दिव्य भगवद्गुणोंका केवल मिथ्या अध्यारोपणमात्र माना जा सकता है; अथवा भगवदाकारोपासनाकी शास्त्रविहिततया किसी न किसी तरहकी अदृष्टोपकारकता स्वीकारनी पड़ेगी.

ईश्वरास्तित्ववादी होनेपर भी मूर्तिपूजाके विरोध करनेवाले मूर्तिपूजनको तो हेय मान कर भी यज्ञयागादि कर्मकाण्डमें अर्चना-प्रार्थना, मानसमूर्तिका ध्यान, नामस्मरण अथवा अन्य भी किसी न किसी तरहका भगवदनुभावरहित भगवान्के प्रति इकतरफा भक्तिभाव तो मानवमें प्रशस्त मानते ही हैं. केवल मूर्तिके उदाहरणमें ही परमेश्वरकी सर्वव्यापिता सर्वज्ञता अनुकम्पाशीलता और आराधनीयता के सामर्थ्यको तब कुण्ठित मानना एक पूर्वाग्रहग्रस्त मूर्तिद्वेष ही प्रतीत होता है.

जिन धर्मग्रन्थोंमें, अतः, मूर्तिपूजा पापाचरण हो उनके अनुयाईओंकी कथा तो दूसरी है. हमारे शास्त्रोंमें, किन्तु, ऐसा मूर्तिपूजाविरोधी भाव वर्णित नहीं हुआ है. अतएव महाप्रभु कहते हैं “साकारव्यापकत्वात् च मन्त्रस्यापि विधानतः श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः” (त.दी.नि.२।२२९). अतः भागवतप्रतिपादित भगवान् श्रीकृष्णकी भागवतवर्णित भक्तिके रूपमें आराधना प्रत्येक पुष्टिभक्तिमार्गीय जीवका परम कर्तव्य माना गया है. श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणने भी, अतएव, भगवत्सेवासे पूर्व भगवदाकारविशिष्ट पार्थिव द्रव्य, अर्थात् धातु-शिलादिनिर्मित मूर्ति, में भगवान् श्रीकृष्णके भागवतोक्त विविध प्राकट्यनिरूपक पद्योंद्वारा उन भावनाओंको दोहरानेकी विधि समझायी है.

अस्तु. तदन्तर्गत प्रस्तुत ग्रन्थमें कई सारे पाठभेद दृष्टिगत हुवे. इनमें मुद्रित मातृकाओंमें सर्वाधिक बात जो मुझे खटकती थी वह यह कि आराध्य मूर्तिमें जब भागवतोक्त भगवान् श्रीकृष्णकी भावना करनी ही हो तो उनके प्राकट्यवर्णनपरक पद्य भी भागवतदशमस्कन्धीय ‘जन्मप्रकरण’, तामस ‘प्रमाण’ ‘प्रमेय’ ‘साधन’ और ‘फल’ प्रकरणोंमें उपलब्ध होते अनेकविध प्राकट्यवर्णनपरक होने चाहिये थे, जो मिलते नहीं थे. इधर प्रभुचरणकी कृपाके स्वरूप दो-तीन मातृकाएं ऐसी भी मिली जो मेरी अपेक्षाओंको सर्वथा सन्तुष्ट करनेवाली निकली. एतदर्थ यह पुनःप्रकाशन आवश्यक लगता होनेसे प्रवृत्त हुआ हूं.

वैसे प्रकाशित होनेके बाद भी सम्प्रदायमें कौन इसके अनुसार भगवत्स्वरूपको पुष्ट या प्रतिष्ठापित करेगा ! सो पुनः प्रकाशनकी आवश्यकता तो प्रश्नार्ह रहती ही है फिरभी सर्वप्रथम तो श्रीमत्प्रभुचरणके द्वारा उपदिष्ट होनेके कारण तथा दूसरे इस ग्रन्थके सैद्धान्तिक महत्त्वको भी देखते हुवे, स्वमार्गमें इस ग्रन्थका तो निरन्तर प्रकाशन होते ही रहना चाहिए, ऐसा मुझे लगता है।

यह कथा अन्य है कि वर्तमान कालमें हम गोस्वामी महानुभावोंकी अनुयायिर्वर्गको उनके निज घरोंमें सेवार्थ आत्मनिवेदन दीक्षा प्रदान करनेकी और तदर्थ उन्हें भगवत्स्वरूप पधरा देनेकी रुचि अतीव क्षीण हो गई है। हमारे अनुगामिजन निजगृहोंमें भगवत्सेवामें परायण हो कर हमारी व्यावसायिक प्रदर्शनार्थ चलती हवेलिओंमें दर्शन-प्रसाद-मनोरथ-भेंट-सामग्रीकी पञ्चविधा भक्तिके अनुष्ठानसे कहीं पराङ्मुख न हो जायें, ऐसी भीति हमें सताती है। एतदर्थ मेंड-मरजादवाली अपरस, जो न अब हमसे भलीभांति पलती है और न हमारी हवेलिओंके कर्मचारिओंकी बटालियनसे ही, उसे अनुगामी जनताके लिए अनिवार्य मान कर उन्हें उनके निजगृहोंमें भगवत्सेवाकी छूट दी नहीं जाती ! कभी-कभी नेग-भोग-रागके वैभवसे रहित भगवत्सेवा या तो पुष्टिप्रभुके माहात्म्यको क्षीण बना देती है अथवा ऐसी सेवा करना पुष्टिप्रभुको परिश्रम देनेका हेतु बन जाता है, ऐसे निमित्तका छद्म भी प्रचारित कर जनताको निजगृहोंमें भगवत्सेवार्थ हतोत्साहित किया जाता है। यों महाप्रभुको अभिप्रेत भगवत्सेवाका सिद्धान्त सेवारीति तथा सेव्यप्रभु प्रदान करनेवाले योग्य अधिकारी गुरुका न मिलना वर्तमान कालमें अपने सम्प्रदायकी एक महती विडम्बना है।

फिरभी ऐसे योग्य अधिकारी गुरुके अभावमें भी भगवत्सेवाकी अनुज्ञा तो श्रीमदाचार्यचरणने “तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्” (त.दी.नि.२।२२८) वचनद्वारा कण्ठतः दी ही है। तदनुसार यदि कोई स्वयं भगवत्सेवामें प्रवृत्त होना चाहता हो तो यह प्रतिष्ठाविधि निश्चयेन उपकारक हो सकती है।

एतावता सी.ए. के व्यवसायमें स्वयंकी जालसाज़ीके कारण लगे प्रतिबन्धवशात् अब ब्रह्मसम्बन्धदीक्षादानके व्यवसायमें प्रवृत्त हो जानेवाले अपुष्टिमार्गीय कथाकार

जो यथाकथञ्चित् हर किसीको ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा हालमें देने लगे हैं, ऐसोंकी वञ्चनामें फंसना भी किसी पुष्टिमार्गके अनुगामीके लिये आवश्यक नहीं लगता है।

एतदर्थ भी ‘श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः’ ग्रन्थके प्रकाशनकी तात्कालिक आवश्यकता प्रतीत हो रही है।

यहां यह उल्लेख कर देना सर्वथा प्रासंगिक ही होगा कि प्रस्तुत श्रीमत्प्रभुचरणविरचित ‘श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः’ और श्रीमद्हरिरायचरणविरचित ‘स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः’ ग्रन्थोंमें प्रकट होता एकरूपताका अभाव अवश्य ही आंखोंमें खटकनेवाली बात किसीको लग सकती है। क्योंकि क्या श्रीहरिरायजीको यह ग्रन्थ उपलब्ध या अवगत नहीं था कि स्वतन्त्र उपदेश उन्हें करना पड़ा ? या फिर परवर्ती किसी लेखकने प्रभुचरणके नामपर, अन्य कुछ ग्रन्थोंकी तरह, अपना दुःसाहस इस तरह प्रकट कर दिखाया है ? ऐसी आशंका सहज ही हृदयमें उठ सकती है।

मेरे अभिप्रायके अनुसार ऐसे किसी भी तिलका ताड़ बनानेसे पहले उभय प्रतिष्ठाप्रकारोंके निगूढ मर्मका अवगाहन करना आवश्यक है। वह कर लेनेपर एकरूपता न होनेपर भी दोनों ही ग्रन्थ निश्चयेन एक-दूसरेके पूरक ग्रन्थ जैसे ही लगेंगे। इस तथ्यके दृष्टिगत होनेपर तथा निरपवादतया सभी मातृकाओंमें मिलती श्रीमत्प्रभुचरणकी “इत्यादिषु यत् स्वरूपं निरूपितं तत् स्वरूपमेव एतानि पद्यानि पठन् ध्यायेत्” (प्रस्तुत पु.प्र.प्र.) इस वचनमें ‘आदि’पदसे अनुक्तके संग्रहका जो उपदेश द्योतित हो रहा है, वही कार्य श्रीहरिरायजीने भलीभांति सम्पन्न किया है। ऐसा मुझे लगता है।

मूलमें श्रीमत्प्रभुचरणने यहां भगवत्स्वरूपप्राकट्यकी भावनाके हेतु सर्वप्रथमतया साकारब्रह्मवादका पोषक पुरुषसूक्त योजित किया है। द्वितीयतया उस श्रुत्येकगम्य प्रमेयकी प्रमाणरूपा श्रुतिओंद्वारा अनुष्ठित निज प्रमेयका उद्बोधन योजित किया है। यह भागवतपुराणके अन्तर्गत दशमस्कन्धीय निर्गुणलीलापरक गुणप्रकरणगत वेदस्तुतिका पद्य है। तृतीयतया उस उद्बुद्ध ब्रह्म-परमात्मरूप प्रमेयका भगवान्

श्रीकृष्णके रूपमें निज भक्तोंके बीच उन्हें प्रपञ्चासक्तिसे छुड़ा कर निजासक्तिमें निरुद्ध करनेवाली लीलाके हेतु प्राकट्यनिरूपक पद्य है। महाप्रभु कहते हैं “सएव परमकाष्ठापन्नः कदाचिद् जगदुद्धारार्थम् अखण्डः पूर्णएव प्रादुर्भूतः ‘कृष्णः’ इति उच्यते” (त.दी.नि.प्र.१।१). अतः तदनुसार भक्तोंको प्रपञ्चको भुला कर अपनेमें अनन्यासक्त बनानेको भगवान् जन्म लेते हैं। ऐसे इस अवतीर्ण रूपके वर्णनपरक भागवतपुराणके अन्तर्गत दशमस्कन्धीय जन्मप्रकरणगत पद्य योजित किया गया है। चतुर्थतया ऐसे अवतीर्ण पुरुषोत्तमके श्रीनन्दके गोकुलमें प्राकट्य और समागमन का निरूपक, भागवतपुराणके अन्तर्गत दशमस्कन्धीय तामसप्रमाणप्रकरणगत, पद्य योजित किया गया है। पञ्चमतया निजप्रमेयके गोपबालकतया श्रीनन्दके गोकुलमें क्रीडार्थ आगमनकी प्रतीक्षामें निरत और तत्पूर्व ही गोपवधुओंके रूपमें प्रकटी श्रुतिओंका निज प्रमेयके दर्शनार्थ उत्कण्ठापूर्वक अभिसरणपरक पद्य योजित किया गया है। षष्ठतया उस श्रीकृष्णके स्वरूपके वर्णनपरक भागवतपुराणके अन्तर्गत दशमस्कन्धीय तामसप्रमेयप्रकरणगत पद्य योजित किया गया है। सप्तमतया ऐसे प्रमेयकी प्राप्तिके हेतु निरूपित भागवतपुराणान्तर्गत तामससाधनप्रकरणगत पद्य योजित किया गया है अष्टमतया यों प्रमाण-प्रमेय-साधनोंके निरुद्ध हो जानेपर फलप्रकरणीय भगवत्स्वरूपके बाह्यप्राकट्यनिरूपक भागवतपुराणके अन्तर्गत दशमस्कन्धीय तामसफलप्रकरणगत पद्य योजित किया गया है। इसी तरह सेवानवसरमें आन्तर प्राकट्यनिरूपक पद्य भी प्रभुचरणने योजित किया है।

प्रभुचरण कहते हैं “ततः पुरुषोत्तमात्मकतायां जातायां स्वरूपे ‘भगवान् श्रीगोकुलेशः श्रीकृष्णो अयम्’ इति बुद्धिः कर्तव्या न च स्वरूपादिबुद्धिः” यहां साक्षात् श्रीकृष्ण होनेकी बुद्धि रखनी इसका मतलब वैसी भावना करनेसे भगवन्मूर्तिमें भगवद्भाव दृढ़ हो जायेगा ऐसा उपदेश फलित होता है।

इस निरूपणका प्रयोजन यही समझना है कि जिस भगवन्मूर्ति या भगवत्स्वरूप का भजनार्थ हम वरण करते हैं, उसकी मूलभूत श्रौत दर्शनशास्त्रीय या ज्ञानमार्गीय उपपत्ति तो ब्रह्मके देश-काल-स्वरूपेण अपरिच्छिन्न होनेके कारण ब्रह्मका सर्वत्र सर्वदा सर्वरूपेण विद्यमान होना ही है। तन्मूलक वह परमात्मरूपेण भी प्रत्येक प्राणी और वस्तु में अन्तर्यामी परमात्माके रूपमें विद्यमान रहता ही है। तृतीय

भक्ति-प्रपत्तिमार्गीय भागवतीय उपपत्ति यह है कि स्वयं भगवान् भक्तके उद्धारार्थ निजप्रापक साधन या अप्रापक असाधन या प्राप्तिमें बाधक कुसाधन को भी अपने अनुग्रहका अवान्तरव्यापार बनाने सर्वसमर्थ कृपालु-दयालु भी होते ही हैं। अतएव महाप्रभु कहते हैं “भगवतो अद्भुतकर्मत्वम् अग्रे व्युत्पाद्यम् असाधनमपि साधनं करोति इत्यादि” (त.दी.नि.प्र.१।१) है।

यह सर्वातिशायी सामर्थ्य प्रभुने अपने श्रीकृष्णात्मना प्राकट्यमें स्फुटतर जताया है। अतः श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु और श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण अपने पुष्टिभक्तिमार्गीय सम्प्रदायमें आराध्यरूपतया श्रीकृष्णका भजन अपरिहार्य मानते हैं। अतएव आचार्यचरण कहते हैं “तत्र साधनता सर्वथा भगवत्सम्बन्धेनैव अवच्छिद्यते न तु ज्ञानित्वेन भक्तत्वेन वा ‘मामेव ये प्रपद्यन्ते’ इति वाक्यात्” – “ये अस्माभिः ज्ञानादयः उपायत्वेन उक्ताः ते लोकानां प्ररोचनार्थं निरूपिताः, तथापि न बाधितार्थत्वं, भगवत्कृपायुक्तत्वे तेषामपि फलसाधकत्वात्... वस्तुतस्तु कृपैव साधनम्” (त.दी.नि.२।५५, ३०७). तदनुसार श्रुत्यादि शास्त्रोपदिष्ट किसी साधनकी साधनता भगवत्कृपाके अवान्तरव्यापारतया ही शक्य होनेसे भगवत्कृपाके अनुरूप जीवात्माके भीतर माहात्म्यज्ञान तथा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहभावात्मक भक्तिरूप अवान्तरव्यापार ही सर्वथा उपयुक्त एवं आवश्यक माना गया है। इसे ही महाप्रभु ‘पुष्टिभक्ति’ कहते हैं। इस ऐसी पुष्टिभक्तिका अनुभाव महाप्रभुने भगवत्सेवा एवं भगवत्कथा में पूर्ण निष्ठाके रूपमें ही स्वीकारा है। तदर्थ ही सेव्यप्रभुका स्वरूप भी भावात्मक ही मान्य किया गया है। स्वमार्गीय दीक्षाप्रदाता आचार्य या गुरु का और/अथवा भगवद्भक्त्यर्थ उद्यत सेवकका भाव ही यहां प्रमुख निर्वाहक हेतु बनता है। अतएव शास्त्रीय मर्यादाके अनुसार खण्डित दग्ध आदि भगवन्मूर्ति अनाराधनीय होनेकी शास्त्रीय आज्ञा अनुल्लंघनीय होती है। पर शास्त्रीय विधिके अनुसार जहां प्राणप्रतिष्ठा हुई हो वहीं इसे अनुल्लंघनीय मानी है, भावात्मक प्रतिष्ठामें नहीं। जैसाकि आचार्यज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण कहते हैं “नात्र प्राणप्रतिष्ठादि व्यापकत्वाद् अजीवतः... गुरुदत्तां/स्वयं लब्धां/भक्तैरपि सुपूजितां/व्यंगांगीमपि सेवेत यदि भावो न बाधते” (साध.दीपि.८८-९०)।

पाणिनिव्याकरणमें ‘अच्’-‘यण्’ आदि प्रत्याहारोंके विधायक सूत्र “आदित्येन सहेता=अत्येन इता सहिता आदिः मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्” (सिद्धा.कौमु.१।१।१।७१) न्यायके अनुसार, अतः, मध्यपाती अन्य भी पद्योंके संकलनमें आपत्तिजनक कुछ नहीं। प्रत्युत श्रीमदाचार्यचरणोपदिष्ट “सर्वदा सर्वभावेन

भजनीयो ब्रजाधिपः” (चतुश्लो.१) सर्वभाव ही चरितार्थ हो जाता है. अतः ऐसे मध्यपाती पद्यका योजन प्रभुचरणोपदिष्ट प्रतिष्ठाप्रकारसे विपरीत न हो कर सर्वथा पूरक ही है. यहां इदमित्थम्भावका मन्त्रशास्त्रीय आग्रह तो नहीं परन्तु इत्थम्भावका भावमार्गीय आग्रह तो प्रभुचरणोक्त ‘आदि’पदका फलितार्थ लगता ही है.

इस ग्रन्थके साथ श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीत एक ‘पञ्चामृतस्नापनप्रकारः’ ग्रन्थ भी नूतनतया प्रकाशित होने जा रहा है. प्रतिष्ठाप्रकारकी तरह ही यहां पञ्चामृतस्नापनके प्रकारमें स्वयं श्रीमत्प्रभुचरणोंके दो भिन्न ग्रन्थोंमें एकरूपता उपलब्ध नहीं होती है. उसके अलावा अद्ययावत् प्रचलित परम्पराके साथ भी ग्रन्थोक्त प्रकार एकवाक्यतापन्न नहीं होता. प्रचलित प्रकारके अनुसार पञ्चामृतस्नापनका क्रम : ‘दुग्ध’ ‘दधि’ ‘घृत’ ‘शर्करा’ ‘मधु’ तथा अन्तमें पुनः दुग्ध तथा शीतोदक द्वारा स्नापनका है. यद्यपि पुनः दुग्धस्नापन न तो प्रतिष्ठाप्रकारमें और न पञ्चामृतस्नापनप्रकारमें ही निरूपित हुआ है. फिरभी प्रचलित क्रम प्रतिष्ठाप्रकारोक्त क्रमानुसारी है, जबकि स्वयं श्रीमत्प्रभुचरणोपदिष्ट सेवाश्लोकोक्त क्रम और श्रीपुरुषोत्तमचरणका पञ्चामृतस्नापनप्रकारोक्त क्रम : ‘दुग्ध’ ‘दधि’ ‘मधु’ ‘शर्करा’ ‘घृत’ उपलब्ध होता है. इस क्रमभेदका हेतु किसी वृद्ध पुरुषके मुखसे कुछ सुन पानेवालेको अवगत हो तो हो, ग्रन्थोंमें कहीं इस विषयका स्पष्टीकरण कमसे कम मुझे उपलब्ध नहीं हुआ. वैसे एक पुरःस्फूर्तिक तन्त्रयुक्ति यह भी विचारी जा सकती है कि प्रतिष्ठाप्रकार ग्रन्थमें क्रम विवक्षित होनेसे उसका क्रमसाधक प्रामाण्य है परन्तु श्रीमत्प्रभुचरणके मूल सेवाश्लोकोंमें क्रम विवक्षित न हो कर स्नानोपकरणीभूत पञ्चविध द्रव्योंकी केवल भाव-भावना ही उपदेश्य या विवक्षित होनेसे उसका क्रमनिर्णायक प्रामाण्य नहीं.

इन ग्रन्थोंमेंसे एक मातृका<sup>(क)</sup>की ज़ेरोक्स प्रतिलिपि बृहन्मन्दिरके पुस्तकालय अथवा श्रीगङ्गुलालाजी-पुस्तकालय में से खोज कर उपलब्ध करानेवाले गो.चि.श्रीमन्दारबावाके प्रति तथा सम्बद्ध ग्रन्थागारके अध्यक्षके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं. मुंबई विद्यापीठके ग्रन्थागारमें से भी प्रभुचरणद्वारा विरचित पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारकी दो अत्युपकारक मातृका<sup>(ख ग)</sup>एं श्रीधर्मेन्द्र झालाने खोज कर हमें उपलब्ध कराई. तदर्थ श्रीझाला तथा मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागाराध्यक्षके प्रति भी हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं. साथ ही साथ अणुभाष्यरश्मि

(४।४।१६) में उद्धृत श्रीप्रभुचरणोक्तसेवाश्लोकाः में से सन्दर्भोपात्त श्लोक तथा श्रीमद्हरिरायचरणविरचित ‘स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः’ तथा ‘स्वरूपतारतम्यनिर्णयः’ भी यहां अवलोकनसौविध्यार्थ इनके आद्यसम्पादकोंके प्रति अपने कृतज्ञताज्ञापनके साथ प्रकाशित कर रहे हैं. मेरे अन्य सभी प्रकाशनोंकी तरह मुद्रणार्थ अपेक्षित सारा उत्तरदायित्व श्रीमनीष बाराईने वहन किया है.

साथ ही साथ श्रीमत्प्रभुचरणविरचित प्रतिष्ठाप्रकारकी व्याख्या भी मैं योजित करने जा रहा हूं. आशा है कि इससे ग्रन्थाभिप्राय हृद्गत कर पानेमें कुछ सहायता मिलेगी और वह पुष्टिभक्तोंमें अपने सेव्यप्रभुके विविध आयामोंकी रसानुभावना प्रवृद्ध कर पायेगी. मेरे अज्ञानवश, परन्तु, यदि ग्रन्थकाराभिप्रेत भावसे इसमें कुछ वैपरीत्य हो गया हो तो निजान्वयाय जान कर प्रभुचरण मेरे इस अपराधको क्षमा करेंगे. किमधिकम्.

कसुम्भा छठ, वि.सं.२०६१

गोस्वामी श्याम मनोहर

(मुंबई-किशनगढ़)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥  
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ॥ श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः ॥

( पाठभेदटिप्पण्युपेतः )

अथ श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारो<sup>पा.भे.१</sup> लिख्यते : शुभवारनक्षत्र- योगा<sup>पा.भे.२</sup> दियुते दिने स्वरूपं पीठे<sup>पा.भे.३</sup> उत्थितं कृत्वा कुशेन “सहस्रशीर्षा...” इत्यारभ्य “सर्वमनिषाण” ( तैत्ति.आर.३।१३।२ ) इत्यन्तेन प्रोक्ष्य स्नानपात्रे स्थापयित्वा -

श्रीमदाचार्यचरणान् ध्यायात्.

महामन्त्रेण दुग्धादिषु तुलसीदलं प्रत्येकं निक्षिप्य मूर्तेः पट्टवस्त्रयुगं परिधाप्य तलेऽपि पट्टवस्त्रम् आस्तीर्य शङ्खे महामन्त्रेण च जलं तुलसीदलं चन्दनं च<sup>पा.भे.४</sup> निक्षिप्य तमेव<sup>पा.भे.५</sup> पठन् तेन पूर्वं स्नानं कारयेत्. ततः शङ्खेन निक्षिप्य पयसा दध्ना घृतेन शर्करया मधुना च क्रमेण स्नापयेत्. पुनः शुद्धोदकेन च<sup>पा.भे.६</sup> स्नापयेत्.

अङ्गवस्त्रं कृत्वा पट्टवस्त्रम् उत्तार्य स्नानपात्रे अङ्ग<sup>पा.भे.७</sup> वस्त्रम् आस्तीर्य तत्र स्थापयेत्. ततः पुष्पतैलम् आलिप्य पाटीरचूर्णेन उद्वर्तनं कृत्वा तप्तोदकेन स्नापयेत्. ततः<sup>पा.भे.८</sup> चन्दनम् आलिप्य स्नानं कारयेत्. ततो अङ्गवस्त्रं कृत्वा श्याममूर्तौ पुष्पतैलागुरुसारौ आलिप्य अन्यत्र एतद् अकृत्वा कुलहीकण्ठवस्त्रादीनि समर्प्य यथाशक्त्या आभरणानि समर्पयेत्. श्यामे नेत्रालङ्कारो अन्यत्र अञ्जनं गुञ्जामालां मयूरचन्द्रिकां प्रसूनमालां च समर्पयेत् वस्त्राणाम्<sup>पा.भे.९</sup> उपरि अगुरुसारं समर्पयेत् अङ्गरागं च<sup>पा.भे.१०</sup>. मृगमदं पिष्ट्वा तन्मध्ये यत्किञ्चित् कर्पूरचन्दने प्रक्षिप्य कपोलौ<sup>पा.भे.११</sup> मण्डयेत्. ततः<sup>पा.भे.१२</sup> चन्दनयुते तुलसीदले उभयोः चरणयोः<sup>पा.भे.१३</sup> स्थापयित्वा

पुनः श्रीमदाचार्यचरणसरसीरुह<sup>पा.भे.१४</sup> ध्यानं कुर्यात् :

“चिन्ता<sup>पा.भे.१५</sup> सन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः ।  
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥”

६. ततः श्रीकृष्णात्मकं पञ्चाक्षरं महावाक्यं स्वरूपहृदयं स्पृष्ट्वा त्रिवारं पठेत्.  
ततो -

१. “जय-जय जहि अजाम्, अजित !, दोषगृभीतगुणां  
त्वम् असि यद् आत्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।  
अगजगदोकसाम् अखिलशक्त्यवबोधक ते  
क्वचिद् अजया आत्मना च चरतो अनुचरेद् निगमः ॥”  
( भाग.पुरा.१०।८४।१४ ).  
इति श्लोकं पठेत्.

ततः द्व-

२. “तम् अद्भुतं बालकम् अम्बुजेक्षणं  
चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधं ।  
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं  
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥  
महार्हं<sup>पा.भे.१६</sup> वैदूर्यकिरीटकुण्डल-  
त्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।  
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिः  
विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥”  
( भाग.पुरा.जन्मप्रक.१०।३।९-१० ).

३. “नन्दस्तु आत्मज उत्पन्ने जाताहलादो महामनाः ।  
आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिर् अलंकृतः ॥

.....

नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयो ।  
बलिभिस् त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश् चलत्कुचाः ॥”

( भाग.पुरा.प्रमा.प्रक.१०।५।१-१० ).

४. “तं<sup>पा.भे.१६</sup> गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-

वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासं ।

वेणुं क्वणन्तम् अनुगैर् अनुगीतकीर्तिं

गोप्यो दिदृक्षितदृशो अभ्यगमन् समेताः ॥”

“बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं

बिभ्रद्वासं कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।

रन्ध्रान् वेणोर् अधरमुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्

वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥”

( भाग.पुरा.प्रमे.प्रक.१०।१२।४२, १०।१८।५ ).

५. “श्यामं हिरण्यपरिधिं नवमाल्यबर्ह-

धातुप्रवालनटवेषम् अनुव्रतांसे ।

विन्यस्तहस्तम् इतरेण धुनानम् अब्जं

कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥”

( भाग.पुरा.साध.प्रक.१०।२०।२२ ).

६. “तासाम् आविरभूच्च छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।

पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान् मन्मथमन्मथः ॥”

“उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनाम्

उन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् ।

दित्सया एति सुहृदाशिष एष

देवकीजठरभूरुडराजः ॥”

( भाग.पुरा.फलप्रक.१०।२९।२, १०।३२।२३ ).

इत्यादिषु यत् स्वरूपं निरूपितं तत् स्वरूपमेव एतानि पद्यानि पठन् ध्यायेत्.

ततः सुवर्णमये वेणुवेत्रे पट्टमयनिदाने<sup>पा.भे.१७</sup> पीताम्बरे च समर्पयेत्. ततः पुरुषोत्तमात्मकतायां जातायां स्वरूपे “भगवान् श्रीगोकुलेशः श्रीकृष्णो अयम्” इति बुद्धि कर्तव्या न स्वरूपादिबुद्धिः.

ततः -

“तद्दर्शनाह्लाद<sup>पा.भे.१८</sup> विधूतहृद्भुजो

मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।

स्वैर् उत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैर्

अचीक्लृपन् आसनम् आत्मबन्धवे ॥”

( भाग.पुरा.१०।२९।१३ )

इति श्लोकं पठन् सिंहासनं स्पृष्ट्वा “रसो वै सः. रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति” ( तैत्ति.उप.२।६।१ ) इति ऋचं पञ्चाक्षरं च<sup>पा.भे.१९</sup> -

“तत्र उपविष्टो भगवान् स ईश्वरो

योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ॥

चकास गोपीपरिषद्गतो अर्चितस्

त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर् दधत् ॥”

( भाग.पुरा.१०।२९।१४ )

इति श्लोकं च पठन् ‘श्रीकृष्ण’पदार्थनिरूप्यो<sup>पा.भे.२०</sup> अयमेव इति ध्यायन् श्रीकृष्णं सिंहासने स्थापयेत्.

ततः चरणारविन्दाभ्यां तुलसीदलम्<sup>पा.भे.२१</sup> उत्तार्य स्वयं गृह्णीयात्. पुनः तुलसीदलं समर्पयेत्<sup>पा.भे.२२</sup>. धूपदीपौ कृत्वा बालभोगादिराजभोगपर्यन्तम् उत्सवभोगं च<sup>पा.भे.२३</sup> समर्पयेत्. ततः समयानन्तरम् आचमनं मुखवस्त्रं च<sup>पा.भे.२४</sup> कृत्वा वीटिकां वेणुवेत्रे समर्प्य<sup>पा.भे.२५</sup> चूर्णमयम् आरार्तिकं कृत्वा -

“नमो-नमस्ते<sup>पा.भे.२६</sup> अस्तु ऋषभाय सात्वतां

विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।



निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा

स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥”

(भाग.पुरा.२।४।१४)

इति श्लोकेन नत्वा अनवसरं विदध्यात्.

श्रीमूर्तेरपि एवमेव, भगवता सहैव<sup>पा.भे.२७</sup> वा, एवंकरणे<sup>पा.भे.२८</sup> साक्षात्  
पुरुषोत्तमात्मकता सिद्धा<sup>पा.भे.२९</sup>.

प्रादुर्भावादस्तु तं-तं प्रति तत्तद्भावानुसारेणैव.

अतएव -

“तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ।

तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि ॥”

(पु.प्र.म.१३).

इति पितृचरणैः निरूपितम्.

ततो अन्याश्रयत्यागपूर्वकं<sup>पा.भे.३०</sup> गुरूपदिष्ट-श्रीभागवत-भक्तिवर्धिनी-नवरत्न-  
प्रकारेण स एव भगवान् श्रीकृष्णो भजनीयः<sup>पा.भे.३१</sup>. अत्र उपपत्तिः भक्तिहंसे  
स्फुटीकृतेति न अत्र प्रपञ्च्यते.

म्लेच्छचाण्डालादिस्पर्शे अन्यमार्गीयस्पर्शेऽपि<sup>पा.भे.३२</sup> पञ्चामृतस्नानाभ्यङ्गौ  
कारयित्वा शृङ्गारं विधाय “तद्दर्शनाह्लाद...” इति पूर्ववदेव<sup>पा.भे.३३</sup>.

इति श्रीविठ्ठलदीक्षित<sup>पा.भे.३४</sup>विरचितः

श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

पाठभेदतालिका

१.‘प्रकारः’ इति क-ख पाठयोः नास्ति. २.‘योगादि’ इति क-ख-ग पाठेषु  
नास्ति. ३.‘पाटे’ इति अ पाठे. ४. ‘ध्यायन्’ इति क-ख, ‘ध्यायाद्’ इति आ.  
५.‘च’ अ-आ-ख पाठेषु अधिकः. ६. “तमेव... निक्षिप्य” इति ख पाठे  
नास्ति. ७.‘अन्य’ इति ख-ग पाठयोः. ८.‘पुनः’ इति ख-ग पाठयोः.  
९.‘वस्त्राणाम्... समर्पयेत्’ अंशो ग पाठे नास्ति. १०.‘च’कारः क पाठे नास्ति.  
११.‘कपोले’ इति अ-आ ‘कपोलौ’ क-ख-ग पाठेषु. १२.‘पुनः’ इति ख-ग  
पाठयोः. १३.‘चरणारविन्दयोः’ इति ख पाठे. १४.‘सरसीरुह’ इति ख पाठे  
नास्ति. १५.‘चिन्तासन्तान... मुहुर्मुहुः’ इति आ पाठव्यतिरिक्ते नैकस्मिन्नपि  
उपलभ्यते. १६.‘महार्हवैडूर्य... साक्षान् मन्मथमन्मथः” इत्येतेषु पद्येषु कानिचित्  
पद्यानि अ-आ पाठयोः नोपलभ्यन्ते उपलब्धान्यपि न साकल्येन किन्तु  
प्रतीकोपन्यासरूपेणैव. १७. “सुवर्णमये वेणुवेत्रे पट्टमये निदानपीताम्बरं समर्पयेत्”  
इति अ पाठे, “...वेणुवेत्रे पट्टमये पीताम्बरे च समर्पयेत्” इति आ, “सुवर्णमयवेणुवेत्रे  
पट्टमयेनिदाने पीताम्बरं च समर्पयेत्” इति क, “सुवर्णमयवेणुवेत्रे पट्टमये निदाने  
पीताम्बरं च समर्पयेत्” इति ख, “सुवर्णमयवेणुवेत्रे पट्टमये निदाने पीताम्बरं च  
निवेदयेत्” इति ग. १८. एतत्पद्यस्थाने “तद्दर्शनाह्लादिविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णा  
ऊर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः रथाद् अवस्कन्द्य स तेषु अचेष्टतः प्रभोः अमूनि अंगिरजांसि  
अहो इति” (भाग.पुरा.१०।३५।२६) इति पद्यं ग पाठे. १९.‘पञ्चाक्षरं च’ इति  
आव्यतिरिक्तेषु सर्वेषु अ-क-ख-ग पाठेषु. २०.‘कृष्णपदार्थः’ इति ख.  
२१.‘तुलसीदलम्’ इति ग. २२. ‘च समर्प्य’ इति ख ‘च समर्पयेत्’ इति आ.  
२३.‘च’कारो ग पाठे नास्ति. २४.‘वस्त्रं च’ इति ख ‘च’काररहितं ‘वस्त्रं’ क  
पाठे. अन्येषु ‘मुखवस्त्रादि’ इति. २५. “कृत्वा वीटिकां समर्प्य” ख, “वीटिकां  
वेणुवेत्रे च समर्प्य” इति क. २६. “नमस्ते, देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर  
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमो अस्तु ते”  
(भाग.पुरा.भूमिकृतस्तुतिपद्यं.१०।५६।२५) इति ग. २७.‘एव’कारो मुद्रितपाठयोः  
नास्ति. २८.‘एवंकृते’ इति ख. २९.‘पुरुषोत्तमात्मकतासिद्ध्या’ इति ख-ग  
व्यतिरिक्तेषु सर्वेषु. ३०.‘ततो अन्याश्रयत्यागपूर्वकम्’ इति ग पाठे नास्ति.  
३१.‘सेव्यः’ इति ख. ३२.‘अन्यमार्गीयस्पर्शे’ इति ख-ग पाठयोः नास्ति.  
३३.‘एव’कारो अ व्यतिरिक्तेषु नास्ति. ३४.‘श्रीविठ्ठलदीक्षित’ इति ख पाठानुरोधात्.  
अन्येषु ‘श्रीमद्विठ्ठलेश्वरः’ ‘प्रभुचरण’ इत्येवमादिपाठभेदाः अनुलिपिकारैः योजिताः  
प्रतिभान्ति.

अ पाठो मुद्रितः श्रीमूलचन्द तेलीवालासम्पादितः आ पाठो गोस्वामिश्रीचन्द्रगोपालसम्पादितः. क पाठः प्राचीना मातृका बड़ामन्दिर(मुंबई)ग्रन्थागारीयमातृकाजैरोक्सप्रतिलिपिः. ख पाठो नातीव प्राचीना. ग पाठः प्राचीना मातृका. एते उभे मुंबईविश्वविद्यालयीयग्रन्थागारीय (सं.१४०-१४१) मातृकयोः जैरोक्सप्रतिलिपिरूपे.

## विषयानुक्रमणिका

| विषयांकाः                                                                                                                                                                        | पृष्ठांकाः |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------|
| १. साकारव्यापकब्रह्मस्वरूपानुसन्धानहेतुकं सेव्याकारा-<br>धिष्ठानशुद्धिभावनम्                                                                                                     | १-९        |
| २. “आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति” इत्युक्तेः<br>भगवत्प्रादुर्भावार्थं निजाचार्यध्यानम् आदौ                                                                                  | ९-१०       |
| ३. “तथा कार्यं समर्प्येव सर्वेषां ब्रह्मता ततः” इत्युक्तेः<br>आत्मात्मीयसमर्पणानुसन्धानम्                                                                                        | १०-१९      |
| ४. “अनुद्वेगार्थं यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि<br>अलंकुर्वीत सप्रेम” इत्युक्तेः सुगन्धिद्रव्यैः अभ्यञ्जन-<br>पूर्वकं वस्त्राभरणैः अलंकरणम्                                | १९-३०      |
| ५. पुनः “सेवाकृतिः गुरोराज्ञा” इत्युक्तेः भगवत्सेव-<br>नार्थं निजाचार्यवन्दनं मध्ये                                                                                              | ३०-३१      |
| ६. आत्मसमर्पणोत्तरं क्रमप्राप्तं स्वस्य भक्तिबीजभाव-<br>रूपं भगवत्सम्बन्धानुसन्धानं तेन भगवतः “एनम्<br>उद्धरिष्यामि” इत्युक्तरीतिकविशेषकृपाविशिष्टस्य<br>स्वरूपस्य आविर्भावभावना | ३१-३४      |
| ७. सद्रूपमूर्तौ सच्चिदानन्दरूपभगवज्जागरणभावनार्थकम्                                                                                                                              | ३४-३५      |
| ८. श्रीकृष्णाकृतौ लोकवेदप्रसिद्धश्रीकृष्णावतारभावनम्                                                                                                                             | ३५-३६      |
| ९. अवतीर्णस्य भगवतः श्रीनन्दब्रजेऽपि लोकवेदातीत-<br>प्रेमादिभावचतुष्टयात्मकप्राकट्यं तथाविधलीलाः च<br>इति भावनम्                                                                 | ३६-४०      |
| १०. एवं विविधभावनाभिः सेव्यायाः भगवन्मूर्तेः पुरुषोत्त-<br>मात्मकतासम्पत्तौ अग्रिमसेवाप्रकारस्य निरूपणम्                                                                         | ४०-४२      |
| ११. फलप्रकरणीयभगवत्प्राकट्यमनु तस्य भावात्मके पट्टे                                                                                                                              |            |



|                                                                                                     |            |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------|------------|
| प्रतिष्ठोत्सवभावानुसन्धानेन प्रादुर्भूते रसात्मके स्वरूपे<br>परमफलरूपतया प्रतिष्ठायाः अनुसन्धानम्   | ४२-४९      |
| १२. एवं प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपे भगवति सेव्यसेवको-<br>भयनिरोधात्मकं सेवनम्                            | ४९-५३      |
| १३. नित्यनिजधामलीलाविहारिस्वरूपभावनया मुक्त्यधिक-<br>भक्तेः परमोत्कर्षभावनार्थकम्                   | ५३-५५      |
| १४. भगवन्मूर्ताविव श्रीस्वामिनीमूर्तावपि उपदिष्टप्रादु-<br>र्भावीत्यतिदेशः                          | ५५         |
| १५. सेवारम्भे तथाविधानुभवाभावजनितोद्वेगवारणार्थकम्<br>आश्वासनम्                                     | ५६-५७      |
| १६. एवं प्रतिष्ठापितस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य भजनेतिकर्तव्यता-<br>निरूपकग्रन्थकर्तव्ययोः उपदेशः         | ५८         |
| १७. एतादृग्भजनप्रकारे उद्गासावाहनातिरिक्तपूजनरीत्याः<br>अन्तर्भावइति कादाचिद् अशुद्धौ कर्तव्यबोधनम् | ५८-६३      |
| १८. पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारविवरणानुवादः                                                           | ६४-<br>१६२ |

-----\*

### परिशिष्टम्

|                                  |         |
|----------------------------------|---------|
| १. पञ्चामृतस्नापनप्रकारः         | १६३-१६६ |
| २. स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः | १६६-१६७ |
| ३. स्वरूपतारतम्यनिर्णयः          | १६७-१६९ |
| ४. उद्धृतवचनानुक्रमणिका          | १७०-२०० |
| ५. पुष्टि-अस्मिता                | २०१-२०४ |

माहात्म्य-बोध-परिपुष्ट-रति-स्वरूप

श्रीकृष्ण-भक्ति-सरणी-तरणीः  
किलायं ।

मोहान्धकार-कलि-कल्मष-वारको वै

श्रीवल्लभो विजयते जगदेकबन्धुः ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ॥ श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः ॥

:: १. साकारव्यापकब्रह्मस्वरूपानुसन्धानहेतुकं सेव्याकाराधिष्ठानशुद्धिभावनम् ::

अथ श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारो लिख्यते : शुभवारनक्षत्रयोगा- दियुते दिने स्वरूपं पीठे उत्थितं कृत्वा कुशेन “सहस्रशीर्षा...” इत्यारभ्य

“सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्, स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥१॥ पुरुषएवेदं सर्वं

॥ श्रीवल्लभो विजयते जगदेकबन्धुः ॥

॥ पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारविवरणम् ॥

अपि कालापरिच्छिन्नं जायते सद्भिः लीलया ॥

अपि देशापरिच्छिन्नं भक्तेष्वायाति क्रीडितुम् ॥१॥

स्वरूपेणापरिच्छिन्नं सर्वरूपमपीह यत् ॥

पृथगानन्दरूपं च प्रादुर्भावयति क्वचित् ॥२॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं भक्त्या यद्यद् निवेदितम् ॥

अश्नात्यशनयातीतं निरुद्धं भाविताकृतौ ॥३॥

साकारब्रह्मवादस्य स्थापकं श्रुतिपारगम् ॥

श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशनपरायणम् ॥४॥

नत्वा तं हि निजाचार्यं पुष्टिमार्गप्रवर्तकम् ॥

वाणीं तदात्मजोक्तां च विवृणोमि वृत्तो हि तैः ॥५॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणैः निबन्धे “तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितं, साकारव्यापकत्वात् च मन्त्रस्यापि विधानतः श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः” (त.दी.नि.२।२२८-२२९) इति वदद्भिः भगवन्मूर्तेः जडत्वेन जन्यत्वेन नाशयत्वेन व्यावर्त्यत्वेन वा मिथ्यात्वं

हेयत्वं च यत् परिहृतं तदेव भगवन्मूर्तेः साक्षाद् भगवत्त्वेन आराधने प्रमाणम्. तत्रापि “तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति” (मुद्ग.उप.३।३) इति श्रुतिरेव प्रमाणम् इति ज्ञेयम्. तस्मात् शिलायां धात्वादौ वा उत्कीर्णस्य भगवदाकारस्य स्वाराधकोद्धारसामर्थ्याभावेऽपि साक्षाद् भगवतितु मूर्तिरूपेणापि स्वाराधकोद्धारसामर्थ्ये शङ्का मुधैव. इह पुरुषसूक्ते ‘सहस्र’शब्दो असंख्यतायाः उपलक्षणम्, अन्यथा शीर्ष्णाक्ष्णोः समसंख्याकत्वेन भगवति वैरूप्यापत्तेः. नच अलौकिकत्वेन तत्परिहारः शक्यो, अन्यथापि उपपत्तेः. वस्तुतस्तु “सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते”, “ब्रह्म एतद्भिः सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् आत्मा आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्” (चित्युप.१.२।७, बृह.उप.१।६।१-३) इत्यादिश्रुतिसंवादात् पुरुषसूक्तेऽपि सर्वाकारत्वमेव प्रतिपिपादयिषितम्. तस्माद् ब्रह्मणः सर्वोपादानतया सर्वरूपत्वं सर्वरूपतया च सर्वाकारवत्त्वं तेन च सर्वेषामपि आकाराणां ब्रह्मतादात्म्योपपत्त्या स्वतो व्यावर्त्यत्वेऽपि ब्रह्मदृष्ट्या सर्वत्र सत्त्वमेव. तथाविधो अनुभवस्तु सत्त्वेऽपि तिरोहितत्वादेव न भवति आविर्भूतत्वेतु सत्त्वानुभवोऽपि. वस्तुजातस्य ब्रह्मतादात्म्यानुभवः तादात्म्यस्य भेदसहिष्णवभेदरूपत्वादेव उपपन्नः. तदेतद् अर्जुनाय दिव्यदृष्टिदित्सुना भगवता “नतु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा, दिव्यं ददामि ते चक्षुः” (भग.गीता.११।८) इति उपदिशता दर्शितं च. सोऽयं दिव्यानुभावो भगवत्प्रदत्तदिव्यदृष्ट्येकदर्शनार्हः. शास्त्रीयोपपत्त्यातु परोक्षबोधरूपेणापि उपलब्धुं शक्यः. यतोहि “एतदात्म्यम् इदं सर्वम्” (छान्दो.उप.६।८।७) इति श्रुतावपि तदेव विवक्षितम्. नहि निराकारस्य इन्द्रियासन्निकृष्टस्य इदमा निर्देशः शक्यइति सर्वस्यापि भगवदाकाररूपतासिद्धिः. एतेन ब्रह्म सन्मात्रं निराकारमेव पारमार्थिकं, साकारन्तु विकल्पबुद्धिगोचरं व्यावर्त्यत्वेन आविद्यकं मिथ्यैवेति भगवन्मूर्तावपि भगवदाकारो मिथ्यैव इति वचनम् असमीक्षिताभिधानमेव, यतोहि लोकदृष्ट्या असत्तया अभ्युपगतयोरपि पुरुषसूक्ते “पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यम्” इति भूतभाविनो

यद् भूतं यच्च भव्यम्, उतामृतत्वस्येशान यदन्नेनातिरोहति ॥२॥ एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पुरुष, पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवात् पुनः, ततो विश्वङ्मयक्रामत् साशनानशने अभि ॥४॥ तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः, स जातो अत्यतिरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥५॥ यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत, वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मश्शरद्धविः ॥६॥ सप्तास्यासन् परिधयः. त्रिः सप्त समिधः कृताः. देवाः यद्यज्ञं तन्वानाः

अबधन् पुरुषं पशुम् ॥७॥ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः, तेन देवाः अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥८॥ तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यं पशुस्तार्क्ष्ये चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्यांश्च ये ॥९॥ तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तास्मादजायत ॥१०॥ तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः, गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥११॥ यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् मुखं किमस्य कौ बाहू कावूरू पादावुच्येते ॥१२॥ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः, ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥१३॥ चन्द्रमा मनसो जातः चक्षुः सूर्यो अजायत, मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१४॥ नाभ्या

हि वस्तुनोः भगवदात्मकत्वस्य कण्ठतो अभिधानात्. तस्माद् यत्र यादृशः आकारस्य भगवतो हि आविर्बिभावयिषा तत्र तादृशः आकारस्य लोकदृष्ट्या उपलम्भो भवति. अन्यत्र तु तदनुपलम्भ एव. ननु सर्वेषामपि आकाराणां भगवदाकारत्वे घटाद्याकाराणामपि कुतो न भजनीयता? इति चेद् अत्र आचार्यचरणोक्तं “आधिदैविकम् अध्यात्मम् अधिभूतम् इति स्मृताः सच्चिदानन्दरूपेण देहजीवेशरूपिणः” (त.दी.नि.२।११९-१२०) इति समाधानं भगवतः आधिदैविकरूपेण प्रकटानाम् आकाराणामेव उद्धारकता भजनीयता च. नच अन्ययोः आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः तदाकारयोः, भगवता सृष्टौ जीवोद्धारार्थं तयोः अप्रकटितत्वात्. तत्र आधि-

आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत, पदभ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाः अकल्पयन् ॥१५॥ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णस्तमसस्तु पारे, सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते ॥१६॥ धाता पुरस्ताद् यमुदाजहार शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः, तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥१७॥ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥१८॥ अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताधि, तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तत्पुरुषस्य विश्वमाजानमग्रे ॥१९॥ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥२०॥ प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः अजायमानो बहुधा विजायते, तस्य धीराः परिजानन्ति योनिं, मरीचीनां पदामिच्छन्ति वेधसः ॥२१॥ यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः पूर्वो यो देवेभ्यो

जातः नमो रुचाय ब्राह्मणे रुचं ब्राह्मं जनयन्तः ॥२२॥ देवा अग्रे तदब्रुवन् यस्त्वेवं ब्रह्मणो विद्यात् तस्य देवा असन् वशे ॥२३॥ ह्रीश्च ते

भौतिकानान्तु घटकटकाद्याकृतीनां मृत्सुवर्णादिषु लौकिकव्यापारेणापि आविर्भावो यथादृष्टः शक्यः. अलौकिकानां पुनः ऐश्वर्यादिषु गुणोपेतानां परमानन्दात्मकाकाराणान्तु भगवतो निजेच्छया वा ब्रह्मज्ञानरूपेण वा भगवद्भक्तिरूपेण वा भगवदाविर्भावकशास्त्रोक्तेन आवाहनप्रतिष्ठादिकर्मरूपेणैव वा साधनेन आविर्भावः. तत्र प्रेमरूपायाः भक्तेः भगवतो हि आविर्भावहेतुत्वं “चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयम्. ततः प्रेमसंवलितं चित्तं सर्वत्र विद्यमानं भगवन्तं विषयीकरिष्यति... भक्त्याविष्टं चित्तं स्वयमेव भगवन्तं गृह्णाति” (सुबो.२।६।३६) इति निरूपितं श्रीमदाचार्यचरणैः.

सोऽयं भगवतो हि आविर्भावोऽपि क्वचित् तत्तद्रूप-तत्तदर्थक्रिययोः उभयोः आविर्भावरूपो अवगन्तव्यः. क्वचित् पुनः अन्यतराविर्भावरूपोऽपि. लौकिकव्याघ्राकृतौ काष्ठमूर्तौ व्याघ्ररूपसत्त्वेऽपि तदर्थक्रियाभावो तथा नाटकादौ अभिनयकर्तृषु अभिनेय-

लक्ष्मीश्च पत्यौ अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम्, अश्विनौ व्यात्तम् इष्टं मनिषाण अमुं मनिषाण सर्वं मनिषाण.”

(तैत्ति.आर.३।१३।२)

“सर्वं मनिषाण” इत्यन्तेन प्रोक्ष्य स्नानपात्रे स्थापयित्वा -

चरित्रार्थक्रियावत्त्वेऽपि अकृत्रिमाभिनेयरूपाभावात् च. तस्मात् ग्रन्थोपसंहारे प्रभुचरणैः “एवङ्कारेण साक्षात् पुरुषोत्तमात्मकता सिद्धा. प्रादुर्भावादस्तु तं प्रति तत्तद्भावानुसारेणैव” इति यद् उक्तं तदपि संगच्छते. अत्र भगवद्भजनस्य साधनावस्थायां तन्मूर्तौ “आत्मनिवेदिनम् एनं भजनकर्तारम् अनेन मदाकारेण उद्गुरिष्यामि” इति इच्छाविशिष्टस्य भगवतो हि आविर्भावेऽपि भजनस्य फलदशां यावत् तथाविधानुभावादेः अभावदर्शनेऽपि न काचित् क्षतिः इति हार्दम्. प्रभुचरणैस्तु इह श्रुतिवचनस्य आद्यन्तप्रतीकोपन्यास एव कृतः तथापि अध्येतृणां बोधसौकर्याय सकलमपि सूक्तं उदाहृतम्.

प्रोक्ष्य इति. प्रोक्षणं हि शुद्ध्यर्थकं तावत् सर्वत्र विधीयते. शुद्धिश्च नेह

शास्त्रीया मार्यादिकी किमुत साकारव्यापकब्रह्मभावनात्मिकैव, पुष्टिमार्गीयभजनप्रकारस्य श्रुतिस्मृतिनन्त्रादिशास्त्रैः अविहितत्वेऽपि तदविरुद्धत्वेन केवलभावरूपत्वाभ्युपगमात्. तद् उक्तं भागवते “ते नाधीतश्रुतिगणाः नोपासीतमहत्तमाः अत्रतातप्ततपसः... केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगाः मृगाः ये अन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः माम् ईयुः अञ्जसा... तस्मात् त्वम् उद्धव उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्याः ह्यकुतोभयम्” (भाग.पुरा.११।१२।७-१५) इति.

ननु अवतारकाले भगवता स्वमुखारविन्देन तथोक्तेः तथाविधानां निःसाधनानामपि भगवत्स्वरूपानन्दरूपफललाभः कल्पयितुं शक्येत इदानीन्तु पुनः शास्त्राविरुद्धत्वेऽपि केवलभावात्मकभजनानुष्ठानस्य जलताडनादिक्रियावत् कुतो न वैयर्थ्यम् अविहितत्वादेव ? इति चेत् न, भगवता स्वमुखारविन्देनैव “ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्” (भग.गीता.४।११) इति स्वीकारात् केवलभावेनापि भगवद्भजने भगवतापि तथैव केवलभावसापेक्षायाः कृपायाः

प्रकटीकरणावश्यम्भावात्.

नच मूढानामेव तत्र अधिकारो भवतु नतु शास्त्रविज्ञानाम् इति वाच्यम्, उद्धवाय सकलशास्त्रोपदेशानन्तरं स्वस्य केवलभावलभ्यतायाः उपदेशोपलम्भात्. नापि केवलभावात्मकभजनव्याजेन शास्त्राज्ञायाः अवहेलनं वा अननुष्ठानं वा महाप्रभुणा वा प्रभुचरणेन वा कुत्रापि प्रतिपादितं येन शास्त्राज्ञाविरोधः केनापि आपाद्येत.

तथाहि -

“यावद् देहो अयम् तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा पुनः आत्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं तदा दास्यं स्वधर्मो अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः.”

(सुबो.३।१८।२).

इह वर्णाश्रमधर्माणां ‘परधर्म’त्वोक्तिः देहधर्माभिप्रायका भगवद्भजनस्य

आत्मधर्मतया प्रतिपादनात्. तद् उक्तं “लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु न अन्यथा वैष्णवत्वं हि सहजम्” (पु.प्र.म.२०-२१) इत्यत्र. अत्र ‘सहज’पदं जीवात्मनो पुष्टिजीवतया ब्रह्मणः सकाशात् व्युच्चरणसमकालिकं यद् भगवत्कृतं वरणं तदभिप्रायकं ज्ञेयम्.

ननु भगवद्वास्याय कृतेऽपि भगवच्चरणारविन्दयोः आत्मनिवेदनपूर्वके तुलसीदलसमर्पणे कस्य इह देहगेहादिषु अहंममाभिमाननिवृत्तिः दृष्टचरा ? ततश्च न कस्यापि एवंविधायां दुर्लभायां भक्तौ अधिकारः सिद्धयेद् इति चेत् न, भावानभिबोधात्. तथाहि -

“‘स्वाश्रमाचारसहित - ब्रह्मानुभवसहित - माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेहो ब्रह्मभावं करोति. फलरूपायां तस्यां (भक्तौ) स्वाश्रमाचारादिकरणं फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचाराः त्यक्तव्याः.”

“‘तत्रापि शीघ्रहृदयग्रन्थिविभेदको वैष्णवः (तन्त्रः). परात्मनो विधिना, न विभूत्यादिभजनप्रकारेण, केवलपुष्टिमार्गेण इति अर्थः. तत्र अशक्तौ तन्त्रोक्तप्रकारेणापि कृष्णमेव भजेत्. अथवा समुच्चयो मर्यादया, उभयथापि पुष्टिमार्गस्थितत्वात् केशवमेव भजेत्.”

“‘भार्गवद्वयेन अनर्थनिवृत्तिः भक्तिमार्गेण ज्ञानमार्गेण च. तत्र प्रथमे शनैः तिरोभावः... सर्वतिरोभावस्तु भगवत्साक्षात्कारे. तदा न स्वप्नदर्शनं जागरणेऽपि न देहादौ आत्मबुद्धिः किन्तु... सर्वदा ब्रह्मानन्दानुभवः... एवं मार्गद्वयस्यापि सेवा हेतुः. भगवत्सेवया द्वयमपि प्राप्यतइति. सापि सेवा शास्त्रनिष्ठा पञ्चरात्रोक्ता न स्वेच्छया यथाकथञ्चित् कृता”.

(<sup>१</sup>त.दी.नि.२।१९६, <sup>२</sup>सुबो.११।३।४७, <sup>३</sup>त.दी.नि.प्र.३।३।५८).

इत्येवमादिवचनैः श्रीमदाचार्यचरणैः कथम्भूतस्य भगवद्रूपस्य कस्याम् अवस्थायां केन प्रकारेण च भजनं कर्तव्यं किं च तदनुकल्परूपं कर्तव्यं किम्पुनः न कर्तव्यम् इत्यादिकं सर्वमपि सम्यक्तया उपदिष्टमेव. तथाच अहंममाभिमानस्य तावत् त्रैविध्यं अवगन्तव्यं : १.परोक्षाहंममाभिमतिः तादृक्प्रत्ययो वा २.अपरोक्षाहं- ममानुभूतिः ३.निखिलानाम् आत्मात्मीयानां भगवति निवेदनेन निखिलेष्वपि भगवदीयत्वप्रकारको अहंममात्मको हृद्भावविशेषः च. तत्र आत्मनिवेदनेन प्रथमप्रकारिकायाः

अहंममाभिमतरेवे निवर्तनीयत्वाभ्युपगमेन गुरुपदिष्टे श्रद्धावत्सु इदानीन्तनेष्वपि गृहीतात्मनिवेदनोपदेशेषु परोक्षाभिमतिनिवृत्तेः न दुर्लभता. अपरोक्षाहंममानुभूतिनिवृत्तिस्तु नैवोपदिष्टा नच ब्रह्मापरोक्षावभासतः पूर्वं कल्पयितुमपि शक्या नापि भगवद्भजनोपकारिणीति अविचार्यैव. तृतीयस्तु प्रकारो भगवद्भजनोपयोगित्वेन भृशम् अभीष्टएवेति न आत्मनिवेदनमूलकपुष्टिभक्त्यधिकारस्य दौर्लभ्यम्.

ननु श्रुत्यादिशास्त्राविरुद्धतया निर्दोषत्वेऽपि विहितत्वाभावेन एतद्भजनप्रकारस्य अवश्यानुष्ठेयत्वं कथं साधनीयं? कुतश्च एतादृग्भजने आजीविकायै च कृते सति देवलकत्वास्पृश्यत्वादिशास्त्रोक्तदोषसंसर्गः? अप्रसक्तत्वादेव. दोषाणाञ्च तेषां विहितप्रकारकभजनएव प्रतिषिद्धत्वाद् इति चेद् अत्र ब्रूमः : प्रथमन्तु तावद् भक्तेः न ऐकान्तिकतया विहितत्वं नापि अविहितत्वं वा वक्तुं युक्तम्. भागवतएव यावता -

“अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः.”

“आज्ञाय एवं गुणान् दोषान् मया आदिष्टानपि स्वकान् धर्मान् सत्यज्ययः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः... गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यद् अमायया, अमानित्वम् अदम्भित्वं कृतस्य अपरिकीर्तनम्... यद्यद् इष्टतमं लोके यच्च अतिप्रियम् आत्मनः तत्तद् निवेदयेद् मह्यं तद् आन्नत्याय कल्पते.”

( भाग.पुरा.३।९।४२ - ११।११।३२-४१ )

इत्यादिवचनेषु ‘कुर्याद्’ ‘भजेद्’ ‘निवेदयेद्’ इति लिङ्लकारप्रयोगदर्शनात्. वस्तुतस्तु इह स्वतःसिद्धस्यैव स्वप्रेष्ठत्वस्य “रतिं कुर्याद्” इति विधिबोधितत्वमिव प्रदर्शनेन यद्यपि अपूर्वविधेः व्यापारकौण्ड्यमेव तथापि “तत्र च अन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्या इति गीयते” इत्युक्तेः लौकिकविषयेषु आसक्तिवारणमेव प्रयोजनत्वेन अवधार्यते. अतएव “कृष्णसेवा सदा कार्या” इत्यत्र आवश्यकार्थककृत्यप्रत्ययविवेचनं कुर्वद्भिः श्रीपुरुषोत्तमचरणैरपि “आवश्यकत्वं नाम पूर्वं कथञ्चिद् ज्ञातस्य पश्चात् तदभावे अनिष्टजननज्ञानपूर्वकज्ञानविषयत्वं, तथाकृतिविषयत्वं वा, नतु विधिविषयत्वमात्रम्” ( सिद्धा.मु.वि.प्रका.१ ) इति व्याख्यातम्.

तस्मात् नैकान्तिकतया अविहितत्वं भक्तेः नच केवलं विहिततयैव अनुष्ठेयत्वं, परमानन्दरूपे भगवति सर्वेषां प्राणिनां स्वारसिकस्नेहस्य स्वभावसिद्धानिरूपणेन विधेः अकिञ्चित्करत्वादपि. ननु तदा भगवतापि कुतः एवं निरूपितम् इति चेत्, श्रूयतां : यद्यपि प्रेष्ठो हि भगवान् सर्वेषां प्राणिनां, न तथापि भगवतः प्रेष्ठत्वेन प्रत्यभिज्ञा सर्वेषु सुलभा. भगवद्विषयायाः वा चतुर्विधपुरुषार्थविषयायाः

वा इन्द्रियलौल्यरूपायाः वा प्रेष्ठत्वप्रकारिकायाः प्रत्यभिज्ञायाः भगवत्कृतैः पुष्टिमर्यादाप्रवाहमार्गार्थकवरणैरेव नियतत्वात्. तस्मात् पर्यवसानवृत्त्या स्वकृतवरणानुरूपस्वप्रत्यभिज्ञापकमेव वचनम् इदम्. तेन भगवदितरेषु प्रेष्ठत्वभ्रमनिरसनार्थकम् इति पर्यवस्यति. तथैव भक्तिमूलकभगवत्परिचर्याया अपि नैकान्तिकं वैधत्वं नापिच ऐकान्तिकम् अवैधत्वं वा. तथापि मायया अहंकारेण, दम्भेन, लाभपूजायै लोके प्रदर्शनाय वापि, तदनुष्ठानप्रसक्तौ आत्मधर्मबुद्ध्यैव भगवद्भजनानुष्ठानं कर्तव्यम् इति बोधनाय वचनम् इदम् इति निश्चीयते. भगवत्स्वरूपानन्दप्रदपुष्टिमार्गे हि वृताः वयं मा हि इन्द्रियविषयलौल्येन प्रवाहमार्गे पर्यटिष्म, मा च दम्भाहंकाराद्यासुरसम्पद्युक्तायां कामरागबलान्वितायाम् आसुरसरण्यां स्वशरीरपरिवारैकपोषणपरायै आजीविकायै भगवद्भजनम् अनुस्थिष्महि. यतोहि आसुराणामेव जीवानां खलु एवं कृत्यं न पुनः पुष्टिजीवानां तद् उक्तं प्रभुचरणैः श्रीपुरुषोत्तमैः च -

“श्रवणादिनवकमपि अधिकारभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेन अनेकविधं भवति... तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयएव. तत्रापि अर्थाद्यर्थभिः विहितत्वेन क्रियमाणः चेत् तदा स तथा, वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवत् लौकिकएव; शौचार्थिगङ्गास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि.”

“एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहुः ‘चेतस्तत्प्रवणं सेवा...’ इति. उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः ‘तद्...’ इति. वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा च कृता अपरा. एतादृशौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं (‘तनुवित्तजा’) पदम्. एतेन भगवदर्थनिरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः (सि.मु.वि.)”, “तत्(भक्ति)परिपाकदशायान्तु स्नेहेन

क्रियमाणं तत् (श्रवणादिनवकं) साधनम्. तत् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्त्वा कार्यते तदा चित्तस्य राजसत्त्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति. यदिच वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो

:: २. “आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति” इत्युक्तेः भगवत्प्रादुर्भावर्यं निजाचार्यध्यानम् आदौ ::

श्रीमदाचार्यचरणान् ध्यायन् -

यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति. नच यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलति इति शङ्क्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम् (सि.मु.वि.प्र.) ”

(‘भक्तिहं. ‘सि.मु.वि.प्र.२) इति.

तस्माद् अस्मदाचार्यप्रवर्तितेऽस्मिन् शुद्धे पुष्टिभक्तिमार्गे अस्मदाचार्यवंशजाः इत्येकैव हेतुना लोके पूजार्हत्वेन अभिमता अपि अस्मदाचार्योपदेशे भृशम् अश्रद्धाधनाः अर्थहया स्वभगवत्सेवाप्रदर्शकाः निषिद्धकारिणो नूनम् आसुरा एव. नहि पुष्टौ भगवता अङ्गीकृताः एतादृशाः भवितुम् अर्हन्ति. ततश्च श्रीमदाचार्यचरणध्यानेन तदुपदिष्टानुसरणेनैव च शिलाधात्वाद्यधिष्ठानेषु भगवदाकृतौ भगवतः पुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्य प्रादुर्भावो नच अन्यथा इति व्युत्पादयन्ति श्रीमदाचार्यचरणान् ध्यायन् इति.

तत्र हेतुः श्रुतिस्मृतिभागवतेषु : “‘आचार्याद् हैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति”, “‘आचार्यवान् पुरुषो वेद”, “‘उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः”, “‘आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति” (‘छान्दो.उप.४।९।३ ‘छान्दो.उप.६।४।२ ‘भग.गीता.४।२४ ‘भाग.पुरा.११।२९।६) इत्येवमादिषु तद्वचनेषु सर्वथा सिद्धा एव. स्वमार्गीयस्य आत्मनिवेदनदीक्षादानाधिकारस्य सर्वसमर्पणपूर्वकस्य भगवत्सेवाप्रकारस्य च पुष्टिजीवोद्दिष्टीर्षूणां निजाचार्यचरणानां कृतएव भगवता प्रकटीकृतत्वादिति. तदुपदेशवैपरीत्येन हि भगवद्भजनं न तावत् निरुपधिभगवद्भावरूपपुष्टिभक्तिमार्गीयं नापि शास्त्रोक्तमर्यादामार्गीयं नचापि अवैदिक-बौद्धार्हत-यावनमार्गीयमिति पाषण्डो वा उपधर्मो वा धर्माभास एव वा न तत्र विप्रतिपत्तिः कापि. तस्माद् आचार्यचरणध्यानं नाम निजाचार्यत्वेन निजात्मधर्मबोधकत्वेन तदाश्रयइति तदुपदेशे श्रद्धावर्धकत्वेन

तद् अवश्यानुष्ठेयम् इति भावः. तद् गीतं “‘भरोसो दृढ इव चरणन केरो. श्रीवल्लभनखचन्द्रछटा बिन सब जग मांझ अंधेरो. साधन और

:: ३. “तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः” इत्युक्तेः आत्मात्मीयसमर्पणानुसन्धानम् ::

महामन्त्रेण दुग्धादिषु तुलसीदलं प्रत्येकं निक्षिप्य मूर्तेः पट्टवस्त्रयुग्मं परिधाप्य तलेऽपि पट्टवस्त्रम् आस्तीर्य शङ्खे महामन्त्रेण च जलं तुलसीदलं चन्दनं च निक्षिप्य तमेव पठन् तेन पूर्वं स्नानं कारयेत्. ततः शङ्खेन निक्षिप्य पयसा दध्ना घृतेन शर्करया मधुना च क्रमेण तत्तन्मन्त्रेण स्नापयेत्. पुनः शुद्धोदकेन च स्नापयेत्.

नहीं या कलिमें जासों होय निवेरो” इति महानुभावैः श्रीसूरदासैः. इह सब जग मांझ अंधेरो इति पुष्टिसम्प्रदायानुगामिनां कृते पुष्टिमार्गे श्रीमदाचार्यचरणानामेव भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डरूपत्वेन तदुपदेशवैपरीत्ये “‘तस्मात् श्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः” ( श्रीवल्ल.३ ) इति प्रभुचरणोक्तो अन्धन्तमोरूपो अन्धकारो ज्ञेयः.

तत्र श्रावणस्य अमले पक्षे एकादश्यां महानिशि स्वयं भगवता पुरुषोत्तमेन कालिन्दीपुलिने प्रादुर्भूय श्रीमदाचार्यचरणानां पुरतः यद् उपदिष्टं प्रतिश्रुतं च “‘ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिः... अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन,... निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति... आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणं... सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः” ( सिद्धा.रह.२-८ ) इति तदनुसन्धानार्थं स्वस्वीयसमर्पणभावात्मकशुद्ध्याधायकं यत् कर्तव्यम् तद् उपदिशन्ति महामन्त्रेण इत्यारभ्य शुद्धोदकेन स्नापयेद् इत्यन्तं यावत्.

एतेन इदानीन्तनायां पुरुषोत्तमपुष्टीकरणान्धरूढ्यां भगवदाकारस्य चरणस्पर्शमात्रेण यः पुष्टीकरणप्रकारः सः आराधनीयस्य स्वरूपस्य पुरुषोत्तमाप्रादुर्भावको भवति न वा इति ये एवं कुर्वन्ति तएव प्रष्टव्याः. ननु श्रीमद्गोपीनाथप्रभुचरणैः “‘चित्रमात्रेऽपि



सेवा स्यात् प्रतिबन्धे गुरोः गिरा” (साध.दीपि.८२) इति वचनेन यत्र गुरुवचनमात्रेणापि भगवत्सेवायाः शक्यत्वोपपादनं तत्र सेव्यायाः भगवन्मूर्तेः चरणस्पर्शपूर्वकपुरुषोत्तमप्रतिष्ठायां कोऽयं सन्देहः ! इति चेद्, अत्र अस्मन्मनस्यपि कश्चन प्रतिप्रश्नो जागर्ति : ननु कीदृशोऽयं दुराग्रहो यद् यादृशी पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा रीतिः प्रभुचरणैः उपदिष्टा सा न अनुसर्तव्या किन्तु स्वमनःकल्पितैव रीतिः अनुसर्तव्या इति ? नच इदमपि साम्प्रतं यद् आधुनिकानां साक्षात् पुरुषोत्तमभजने अनधिकारितया तेभ्यः प्रभुचरणोपदिष्टप्रकारेण प्रतिष्ठापितस्य भगवत्स्वरूपस्य अप्रदानमेव युक्ततरमिति, यस्माद् मनःकल्पितया रीत्या योहि प्रतिष्ठाप्रकारो अनुष्ठीयते तेन सम्पन्नं भजनं किं पुरुषोत्तमस्यैव उत अन्यस्य कस्यचिद् तद्विभूत्यादेः ? आद्ये अकामस्यापि साक्षात्पुरुषोत्तमभजनाधिकारसम्पत्तिः गले पतितैव. द्वितीये अन्याश्रयदोषापत्तिः दुरुद्धरा.

ननु अत्र महामन्त्रेण दुग्धादिषु तुलसीदलं प्रत्येकं निक्षिप्य इत्यत्र कोऽयं महामन्त्रः ? किं निवेदनगद्यात्मकः उत पञ्चाक्षरात्मको वा अष्टाक्षरात्मको वा गोपालमन्त्रो गायत्रीमन्त्रो वा ? नच केयं पृच्छा इति वाच्यं, परम्परातो दुग्धादिषु सपञ्चाक्षरगद्यमन्त्रोच्चारणपूर्वकस्यैव तुलसीदलनिक्षेपस्य उपपलम्भेऽपि साधनदीपिकायां “तदर्थं वरणं कार्यं श्रीगोपालमहामनोः... ततः सर्वं समप्यैव श्रीगोपालमनुं श्रयेत्” (साध.दीपि.५६-५८) इति वचनेऽस्मिन् तन्त्रोक्तस्य श्रीगोपालमन्त्रस्यैव महामन्त्रत्वप्रतिपादनात्. श्रीपुरुषोत्तमोक्तपञ्चामृतस्नापनविधावपि तथैव. अपरत्र तु “तुलसीशङ्खतोयेन गायत्र्या अस्मिन् निधाय च” (साध.दीपि.११०) इति तुलसीजलयोः गायत्र्यापि शङ्खेन निक्षेपः उक्तइति विचिकित्सा.

तत्र एतद् अवगन्तव्यं : श्रीमदाचार्यचरणेन “मन्त्रोऽपि एकः तस्य नामानि यानि” (त.दी.नि.१।४) इति उक्तत्वेन यद्यपि त्रयाणामपि श्रीगोपालाष्टाक्षरसगद्यपञ्चाक्षरमन्त्राणां ‘श्रीकृष्ण’नामघटितानाम् ‘एक’पदकीर्तितम् उत्कृष्टत्वं सममेव, तथापि विनियोगस्तु यथाशब्दो यथासदाचारो वा स्वीकर्तव्यः. गायत्रीमन्त्रेऽपि अवतारकालिकनामाप्रयोगेऽपि भगवदर्थकता तु निःसन्दिग्धैव. वचनसदाचारयोः अनुरोधेन गोपालात्मनिवेदनमन्त्रयोः अन्यतरेणैव विनियोगो अनुष्ठेयः.

ननु तदा कुतः प्रभुचरणैः भक्तिहंसे गोपालमन्त्रस्य विभूतिपरत्वं प्रतिपादितम् ? इति चेद्, अवेहि श्रीप्रभुचरणानां तात्पर्यम्.

तथाहि -

“प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः भक्तिमार्गं मर्यादाभक्तिः इति उच्यते... स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणः उत्तमः पुष्टिभक्तिरूपः... स्नेहवशेन क्रियमाणाः ते स्नेहमध्यपातिनएव... एवं सति भक्तिमार्गीयभजनप्रकारेषु स्नेहएव नियामकः स्नेहवतां, कर्मणि विधिवत्, तद्रहितानान्तु तद्वत्कृत उपदेशएव. सच वेदाविरुद्धएव इति ज्ञेयम्.”

(भक्तिहं. ).

इति प्रतिपादयद्भिः प्रभुचरणैः गोपालमन्त्रस्य भक्तीतरकामपूरकतया अनुष्ठानएव विभूतिपरत्वं प्रतिपादितम्. तस्माद् अनिषिद्धलौकिककामनाप्राधान्येऽपि यत्र विभूतिपरत्वं तत्र निषिद्धरीतिकाजीविकार्थकभजने तु विभूतिपरत्वस्यापि निवृत्त्या अन्धन्तमोद्गारोद्घाटनपरत्वमेव ! भगवत्स्वरूपस्नेहवन्मूर्धन्येन श्रीगोपीनाथचरणेन कृतेन वा उपदेशेन तथाविधस्नेहरहितानाम् आधुनिकानाम् अस्मादृशानां कृते समर्पणगद्येन सह गोपालमन्त्रस्य समुच्चयोऽपि वैकल्पिकतया निर्दुष्टएव. अतएव प्रभुचरणानां चतुर्थार्थभजेन “भगवते कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय” इति गद्यमन्त्रएव श्रीगोपालमन्त्रांगभूतभगवन्नाम्नः समुच्चयो अङ्गीकृत्य दीक्षाप्रदानेऽपि तथैव उपदेशः प्रचारितः इति प्राचां प्रवादः संगच्छते.

अथ ऐकान्तिकतया गोपालमन्त्रस्य विभूतिपरत्वे अङ्गीकृते तु श्रीमदाचार्यचरणशिष्याणां श्रीकृष्णदासानां श्रीमदाचार्यस्तुतिपद्ये “श्रीगोपालमन्त्र अष्टाक्षर पञ्चाक्षर के श्रवन कराये, गद्यमन्त्र सब जीवनिकों दे कृष्णचरण सबके चित लाये” (श्रीकृ.साग.श्रीमहाप्र.१११०) इति निरूपणं न संगच्छेत. नहि ऐकान्तिकतया विभूतिपरेण मन्त्रेण चेतसः पुरुषोत्तमप्रवणता साधयितुं युक्ता. नच “मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिः यो अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु” (भक्तिहं.मंगलाच.) इति उपक्रमविरोधः शङ्कनीयः, पुरुषोत्तमस्य ऐकान्तिकासृष्टत्वे खलु पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारे पुरुषसूक्तविनियोगोपदेशोऽपि विरुद्धचेत. तस्मात् साधनबलेन

अस्पृष्टत्वेऽपि पुष्टिभक्तिरूपप्रमेयबलेन पुरुषोत्तमस्पर्शो न हानिः काचित्. यतोहि श्रीमदाचार्यचरणापि आहुः “एकप्राधान्ये अन्यस्य विभूतित्वम् इति स्थितिः.”



(त.दी.नि.प्र.३।३।५) इति. तस्माद् यत्र श्रीगोपालमन्त्रस्य लौकिककामपूरकतया जपादिः तत्रैव तस्य विभूतिपरत्वं नतु अहैतुक्यां साक्षात् पुरुषोत्तमभक्तिरूपायां सेवायां तस्य विनियोगे विभूतिपरत्वं शक्यशकम्. अन्यथा लौकिकदेहपरस्य अहंकारस्य लौकिकबन्धुवित्तगोहादिपरस्य च ममकारस्यापि “दासोऽहम्” – “शरणं मम” इति भगवति श्रीकृष्णे विनियोगोऽपि विनिन्द्यः स्यादेव. दूरे तावत् कथा अहंकारास्पददेहादेः ममकारास्पदबन्धुवित्तगोहादेः !

ननु अग्रे प्रभुचरणैस्तु भागवतीयभगवत्प्राकट्यवर्णनपराणां पद्यानां पाठानन्तरमेव “ततः पुरुषोत्तमात्मकतायां जातायां स्वरूपे” इति व्यवस्थापितम्. समर्पणञ्च पुरुषोत्तमायैवेति ततः पूर्वं कथन्तु समर्पणभावनं संगच्छेत् ? इति चेत् न, नहि इदम् आद्यं समर्पणं किमुत आत्मनिवेदनस्मारकमेवेति न अनुपपन्नं किञ्चित्. पूर्वकालिकात्मसमर्पणाभावेतु पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाकर्मण्यपि अधिकाराभावात् च.

इदम् अत्र अवधेयं : यद्यपि पञ्चामृतस्नापने ‘तत्तन्मन्त्रेण’ इति पाठः सर्वासु मातृकासु न उपलब्धः. एकस्यामेव च तदुपलम्भाद् भवति विचिकित्सा प्रामादिको वा प्रामाणिको वा अयं पाठः इति. तत्र एवं ज्ञेयं श्रीपुरुषोत्तमचरणैः स्वकृतपञ्चामृतस्नापनप्रकारोपदेशके ग्रन्थे वैदिकतान्त्रिकभागवतीयमन्त्राणां परम्परागतो विनियोगो अत्र प्रदर्शितः. प्रभुचरणकृतेषु सेवापद्येषु पृथगपि कानिचित् स्नानोपयोगिद्रव्यभावप्रतिपादकानि स्तुतिरूपाणि पद्यान्यपि उपदिष्टानि. सति चैवम् उपनीतानां त्रैवर्णिकानामेव वैदिकमन्त्रोच्चारणे अधिकाराभ्युपगमेन एतादृशैः श्रीपुरुषोत्तमैः उपदिष्टप्रकारेण कर्तव्यम्, अपरैस्तु प्रभुचरणोपदिष्टपद्योच्चारणपूर्वकमेव भगवतः स्नापनं कार्यम्.

अत्र वैदिकमन्त्रोच्चारणे अधिकृतानाम् उपनीतानां कृते भगवतः पञ्चामृतस्नापनमन्त्राः श्रीपुरुषोत्तमैः संगृहीताः आनुपूर्व्या विलिख्यन्ते :

पयोऽर्थे “पयस्वतीरोषधयः पयस्वद् वीरुधां पयः. अपां पयसो

यत् पयस्तेन मामिन्द्रः सञ्जुज” (तैत्ति.संहि.१।५।१०).

दध्यर्थे “ॐ दधि क्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः. सुरभिर्नो मुखा

करत्प्रण आयूँ षितारिषत्.” (तैत्ति.संहि.१।५।११).

मध्यर्थे “मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः. माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः.

मधु नक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवं रजः. मधु द्यौरस्तु नः पिता. मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः. माध्वीर्गावो भवन्तु नः.” (तैत्ति.संहि.४।१२।१९).

घृतार्थे “घृतं मिमिक्षिरे घृतमस्य योर्निघृते श्रितो घृतमुवस्य धाम. अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्. समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपाँ शुना सममृतत्वमानट्.” (तैत्ति.आर.१०।१०।१२।).

शर्करार्थे “शुक्रमसि ज्योतिरसि तेजोऽसि देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रं त्वा शुक्रायां धाम्ने-धाम्ने देवेभ्यो यजुषे-यजुषे गृह्णामि ज्योतिस्त्वा ज्योतिष्यर्चिस्त्वाऽर्चिषि धाम्ने-धाम्ने देवेभ्यो यजुषे-यजुषे गृह्णामि” (तैत्ति.संहि.१।१।१०).

एभिः वैदिकैः मन्त्रैः स्नानं कारयित्वा ततः शीतलेन शंखोदकेन-

शुद्धोदकार्थे “ॐ आपो हिष्ठाः मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन. महेरणाय चक्षसे योवशिशवतो रसस्तस्य भाजयतेहनः उशतीरिव मातरः. तस्मा अरंगमामवो यस्य क्षयाय जिन्वथ आपो जनयथा च नः.” (तैत्ति.संहि.४।१।५). “ॐ हिरण्यवर्णांशुचयः पावका यासु जातः कश्यपो यास्विन्द्रः. अग्निं या गर्भं दधिरे विरूपास्ता न आपश्शस्योना भवन्तु. यासाँ राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानां मधुश्च्युतश्शुचयो याः पावकास्ता न आपः शँ स्योना भवन्तु. यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति याः पृथिवीं पयसोन्दन्ति शुक्रास्ता

न आपः शँ स्योना भवन्तु” (तैत्ति.संहि.५।६।१). “पवमानः सुवर्जनः. पवित्रेण विचर्षणिः. यः पोता स पुनातु मा, पुनन्तु मा देवजनाः. पुनन्तु मनवो धिया. पुनन्तु विश्व आयवः. जातवेदः पवित्रवत्. पवित्रेण पुनाहि मा.” (तैत्ति.ब्राह्म.१।४।८।१).

“वसवस्त्वा परि गृह्णन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वा परि गृह्णन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽऽदित्यास्त्वा परि गृह्णन्तु जागतेन छन्दसा देवस्य सवितुः सर्वे कर्म कृण्वन्ति वेधसः.” (तैत्ति.संहि.१।१।१९।१७).

येषां पुनः वैदिकमन्त्रोच्चारणे उपनयनसंस्काराभावाद् अधिकाराभावः तेषां कृते श्रीमत्प्रभुचरणविरचितानि पद्यान्यपि संगृह्यन्ते :

पञ्चामृतेन भावात्म - रूपेणाति - प्रियेण ते ॥  
 स्नापयामि ततः स्नात्वा हृदि मे सुस्थिरो भव ॥१॥  
 प्रिया - हास्य - प्रभा - तुल्य - रूपेण पयसा गवाम् ॥  
 स्नानं समाचार विभो कम्बुस्थेन व्रजेश्वर ॥२॥  
 राधिकास्यामृत - कर - चन्द्रिका - विशदेन वै ॥  
 सरसेन घनेनेह दध्ना स्नानं समाचर ॥३॥  
 प्रिया धरामृत - स्पन्द - मधुरेण महाप्रभो ॥  
 शंखस्थितेन मधुना स्नात्वा मुदम् अवाप्नुहि ॥४॥  
 प्रिया - स्नेहैक - रूपेण घृतेन व्रजनायक ॥  
 स्नानं स्नेहात्मकं कृत्वा स्निग्धतां प्रकटीकुरु ॥५॥  
 प्रिया - प्रत्यंग - सौन्दर्य - माधुर्य - समतां गतम् ॥  
 तया शर्करया स्नात्वा प्रत्यंगोच्छूनतां व्रज ॥६॥

ननु वैदिकानां श्लोकानां प्रभुचरणकृतानां च पञ्चामृतस्नाने समुच्चयः कुतो न प्रतिपाद्यते ? अत्र ब्रूमः : समुच्चयोऽपि शक्यो विकल्पोऽपि यथाहि श्रीमदाचार्यचरणानां विवक्षितेन सुबोधिनीवचनेन सिद्ध्यत्येव.

ननु विष्वक्सेनसंहितागमोक्तेऽपि प्रतिष्ठाप्रकारे “वैष्णवीकरणं कुर्यात् पूर्वं... मन्त्रन्यासं ततः कुर्यात् मूर्तिमन्त्रेण साधकः” (विष्व.संहि.१६।२२) इति उक्त्वा “सृष्टिन्यासं स्थितिन्यासं संहितिन्यासमेव च... पञ्चविंशतितत्त्वानि प्रतिमायां न्यसेत् ततः... अथवा देवदेवस्य मन्त्रन्यासं शृणु क्रमात्. चतुरभ्यधिकं विंशत् सूक्तं नारायणं क्रमाद् देवस्य पादौ संपृष्ट्वा आचार्यः सूक्तम् उच्चरन् तस्यान्ते पौरुषं ब्रह्मन् षोडशं सूक्तम् उच्चरेत्. ततस्तु अथर्ववेदे च सृष्ट्यादिप्रतिपादकं नारायणोपनिषदं त्रिः पठेत्” (तत्रैव.२५-२९) इति निरूपणात् कुतो नायं तन्त्रोक्तएव प्रकारः इति अभ्युपगम्यते ? तथैव श्रीप्रश्नसंहितागमेऽपि “शिलानाम् अधिवासार्थं... स्नपनार्थं स्थापितेषु कुम्भेषु... सर्पिः... क्षीरं... इक्षुजलं... पञ्चगव्यं... फलोद्भवम्... गन्धवारि... लोहजलं... मधु... स्नापयेद् इक्षुतोयेन ‘मधुवाता’ इति मन्त्रतः... ‘फलिनी’ त्वनुवाकेन स्नापयेत् फलवारिणा ‘हिरण्यगर्भ’मन्त्रेण स्नापयेद् लोहवारिणा

‘दधिक्राव्णे’ति यजुषा दध्ना... स्नापयेद् पञ्चगव्येन पञ्च वारुणमन्त्रतः ‘गन्धद्वारे’ति मन्त्रेण स्नापयेद् गन्धवारिणा ‘मधुवाते’ति मन्त्रेण मधुस्नानं समाचरेद्” (श्रीप्र.संहि.६।३१-४१) इत्येवमादेः प्रतिष्ठाविधौ पञ्चामृतादिद्रव्यैः स्नापनरीतेः उपलम्भेन भवति सन्देहः : प्रथमतस्तु द्वयोः एतयोः प्रकारयोः भेदः कुतः ? अपरञ्च सत्यपि भेदे आगमोक्तप्रकारस्य यथाकञ्चिदनुसरणे स्वीकृतागमप्रामाण्यकौण्ठ्यं च इति. किञ्च स्वाच्छन्द्यानुसरणे तु प्रामाणिकत्वहानिरपि. श्रीमदाचार्यचरणैः “आचार्येणापि आगमएव पञ्चरात्रादिः प्रदर्श्यते” (सुबो.११।३।४८) इति प्रतिपादयद्भिः मूर्तिभजनप्रकारे तन्त्रागमप्रामाण्यस्य अङ्गीकारादेव. तत् कुतः तन्त्रशास्त्रवैपरीत्यं पितृपुत्रयोः च मिथो वैमत्याविष्कारको मतभेदः च ? इति चेत् न,

यस्माद् नेह श्रुतितन्त्रादिभजनप्रकारांगभूतं पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारम् उपदिश्यते किमुत “परात्मनो विधिना - न विभूत्यादिभजनप्रकारेण - केवलपुष्टिमार्गेण इति अर्थः. तत्र अशक्तौ तन्त्रोक्तप्रकारेणापि कृष्णमेव भजेद्” (सुबो.११।३।४७) इति आचार्योपदिष्टमेव खलु अनुसरन्तः केवलपुष्टिमार्गीयं पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारम् उपदिशन्ति प्रभुचरणाः. तेन तन्त्रोक्तेन प्रकारेण वैपरीत्येऽपि न कश्चन मतभेदः

पितृपुत्रयोः शङ्कनीयः. नापि अभ्युपगततन्त्रागमप्रामाण्यहानिः पुष्टिमार्ग-तन्त्रमार्ग-समुच्चयावलम्बनकल्पे तथाविधस्वतन्त्रप्रक्रियायाः अद्योतनाद्.

इह विष्वक्सेनसंहितागमोक्ते प्रतिष्ठाप्रकारे “वैष्णवीकरणं कुर्याद्” इत्यत्र अभूततद्भावद्योतक‘च्वी’प्रत्ययप्रयोगोपलम्भेन सृष्ट्यनुकूलैच्छिकभेदं प्रधानीकृत्य भजनोपदेशे तात्पर्यम्. केवलपुष्टिमार्गे तु “स्वरूपैक्यं लीलायां च पार्थक्यम्” इति तादात्म्यानुरोधेनैव भक्तेः परिचर्यायाः चापि उपदेशइति तारतम्यम्. अतएव न केवलं भजनीयभगवन्मूर्तेः किमुत “भूतानि विष्णुः भुवनानि विष्णुः वनानि विष्णुः गिरयो दिशश्च, नद्यः समुद्राश्च सएव विष्णुः यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य” (विष्णुपुरा.२।१२।२८) इति उक्त्या वस्तुमात्रस्यैव विष्णुरूपत्वाङ्गीकाराद् वैष्णवीकरणापेक्षाभावः. तस्मात् नहि शिलायां धात्वादौ वा वैष्णवीकरणस्य किमुत सर्वत्र विष्णुभावनात्मिकायाः शुद्धेरेव अपेक्षणात्.

यद्यपि तादृशी भावशुद्धिस्तु भागवतोक्तानां खलु द्रव्याद्वैत-क्रियाद्वैत-भावाद्वैतानां क्रमिकेणैव (द्रष्ट.भाग.पुरा.७।१५।६२-६७) सोपानेन शक्यानुवर्तना तथापि भक्तेः पूर्वाङ्गभूतभगवन्माहात्म्यज्ञानोपयोगिना भगवद्गीतोक्तेन “सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्” (भग.गीता.१८।२०) इति सात्त्विकेनैव ज्ञानेन भगवन्मूर्तौ तावद् इह भावशुद्धिः प्राथम्येन चिकीर्षितेति न वैष्णवीकरणापेक्षा.

तत्र तावत् सुशक्तत्वेन प्राथमिकं हि द्रव्याद्वैतमेव “आत्मजायासुतादीनां अन्येषां सर्वदेहिनां यत् स्वार्थकामयोः ऐक्यं ‘द्रव्याद्वैतं’ तद् उच्यते. यद् यस्य वा अनिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो, नृप !, स तेन ईहेत कर्माणि नरो नान्यैः अनापदि” (भाग.पुरा.७।१५।६५-६६) इति भगवत्सेवाधिकारसम्पादकं हि द्रव्याद्वैतम्. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः “स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्मात् च निवर्तनम् इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न परित्यजेत्... विधर्मा निषिद्धाः. न अत्र ‘शक्त्या’ इति. सर्वथा निषिद्धं न कर्तव्यम्” (त.दी.नि.प्र.२।२३८). विवृतञ्च आवरणभङ्गकारैः

“योऽपि अनिषिद्धो भोगः सोऽपि सेवाबाधकीभूतकामनिवर्तकत्वेनैव करणीयो न इन्द्रियप्रियत्वेन... यश्च एवं कर्तुमपि अशक्तः सतु ‘जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदकांश्च गर्हयन्’ इति एकादशोक्तरीत्या स्वस्य तत्त्यागासामर्थ्यं भावयेद्” (तत्रैव). तस्माद् एतदभावे अन्ययोः अनधिकारएव. तदनु क्रियाद्वैतानुसन्धानं शक्याचरणं भवति तथाहि “यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणं मनो-वाक्-तनुभिः पार्थ ‘क्रियाद्वैतं’ तद् उच्यते” (भाग.पुरा.७।१५।६४) इति. द्रव्याद्वैताभावे हि आसुराणामेव कर्मणां भगवति समर्पणं पाषाण्डायैव केवलं भवेद् इत्यपि हेतोः तथा. अन्ततस्तु शाब्दबोधविषयं तद् भावाद्वैतं “कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतनुवद् अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य ‘भावाद्वैतं’ तद् उच्यते” (भाग.पुरा.७।१५।६३) इति वचनोक्तप्रकारेण परानुभूतैः कल्पेत्. एवंहि भावाद्वैतानुभूतौ भावशुद्धेः फलपर्यवसानं “एतैः अन्यैः च वेदोक्तैः वर्तमानः स्वकर्मभिः गृहेऽपि अस्य गतिं यायाद्... तद्भक्तिभाग् नरः” (भाग.पुरा.७।१५।६४-६७) इति द्योत्यते.

इदम् अत्र अवधेयं : द्रव्याद्वैतक्रियाद्वैतेऽपि मूर्तिरूपे स्वभजनीये भगवति

तद्भजनानुकूलपरिजनैः च सह अनुसन्धीयेते अनुष्ठीयेते च. यथाच उपदिष्टं श्रीमदाचार्यचरणेन “समर्पणेन आत्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम् अतदीयतया चापि केवलः चेत् समाश्रितः तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित् समाचरेत् स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भारद्वागुण्यम् अन्यथा”, “बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः” (‘बालबो.१८-१९, ‘भक्तिवर्धि.२) इत्यत्र. एवं द्रव्याद्वैतक्रियाद्वैताभ्यां हि अहंकारममकारयोः कश्चन विलक्षणो भगवद्भक्त्यनुकूलः संस्कारः सिद्ध्यति. संस्कृतौ च अहंममकारौ कालेन भावाद्वैतस्य अपरोक्षानुभूतौ प्रतिबन्धकौ न भवतः. तदिदं भावाद्वैतं “तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय”, “अत्र हि एते सर्वे एकं भवति” (छान्दो.उप.६।२।३, बृह.उप.१।४।७) इत्येवमादिषु नैकश्रुतिषु प्रतिपाद्यं न तावद् द्वित्वात्यन्ताभावरूपं, नापि सृष्टीच्छया प्रकटीकृतलीलात्मकं द्वैतमपि एकत्वात्यन्ताभावरूपं वा, वक्तुं युक्तम्. तस्मादेव तादात्म्यम् इदं ब्रह्मणि भक्तभगवद्भावविष्कृतौ सेव्यसेवकभावविष्कृतौ च महदेव उपकारकं न जातु विघातकम्. एवंहि भगवद्भक्त्यङ्गभूतयोः सेवाकारूपयोः

साधनयोः हार्दम्.

तस्माद् भावाद्वैतोपयोगिनः तादात्म्यस्य अनुसन्धानार्थं भगवन्मूर्तौ आत्यन्तिकीं भेदबुद्धिं निराकर्तुं च तन्त्रोक्तं वैष्णवीकरणं केषाञ्चिद् अधिकारिणां कृते विहितमपि पुष्टिभक्तिप्रकारे अनावश्यकमेव. येषान्तु ब्रह्मणो जडजीवाभ्यां सह यत् श्रौतं तादात्म्यं तन्मूलके हि अस्मिन् भक्तिप्रकारे अधिकारो नास्ति तेषां कृतेतु श्रीमदाचार्यचरणोक्तेन “तत्र अशक्तौ तन्त्रोक्तप्रकारेणापि कृष्णमेव भजेत्” (सुबो.११।३।४७) इति भिन्नप्रकारेणापि कृष्णभजनमेव आवश्यकं पुष्टिमार्गं. तद् उक्तं “जगन्नाथे विट्टले च श्रीरङ्गे वेङ्कटे तथा यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत् तत्परः” इत्यस्य प्रकाशे तदावरणभङ्गे च “विकल्पएव एषां स्थानानां... पूजाप्रवाहो भगवत्सान्निध्यप्रयोजकः”, “प्रपत्तिमार्गस्य भक्तिमार्गानुकल्पत्वाद्” (त.दी.नि.प्र.आ.२।२५५) इत्यत्र. इह ‘प्रपत्तिमार्गो’ मर्यादाभक्तिमार्गरूपः पुष्टिभक्त्यनुकल्परूपो अवगन्तव्यः. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः -

“‘कर्मणः पापस्य निर्हारो दूरीकरणं प्रायश्चित्तम् इति यावत्... वैदिकतान्त्रिकमार्गेण पूजां कुर्यात् स तामससात्त्विकः. परस्मिन् भगवति

वा कृतानां सर्वकर्मणाम् अर्पणं समर्पणम् उद्दिश्य यो हरिं यजेत् स राजससात्त्विकः... यस्तु नित्यकर्मवत् यष्टव्यएव भगवान् इति यजते स सात्त्विकसात्त्विकः. पृथग्भावः पूर्ववत्”. “भेदः पारमार्थिकः इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोगः उक्तः... तमोरजःसत्त्वैः भिन्नो अस्मत्प्रतिपादितः च नैर्गुण्यः. एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितः”.

(सुबो. १३।२९।१० १३।३२।३७)

इदम् अत्र अवधेयं : श्रीगोपीनाथप्रभुचरणोपदिष्टायां साधनदीपिकायां “लब्धानुग्रहम् आचार्याद्” इत्यारभ्य “एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेद्” (साध.दीपि. २४-३०) इति अस्यैव भजनप्रकारस्य विवरणं ज्ञेयम्.

:: ४. “अनुद्वेगार्थं यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैराभरणैरपि अलंकुर्वीत सप्रेम” इत्युक्तेः सुगन्धिद्रव्यैः अभ्यञ्जनपूर्वकं वस्त्राभरणैः अलंकरणम् ::

अङ्गवस्त्रं कृत्वा ( ? कर्तुम् ! ) पट्टवस्त्रम् उत्तार्य स्नानपात्रे अङ्गवस्त्रम् आस्तीर्य तत्र स्थापयेत्. ततः पुष्पतैलम् आलिप्य पाटीरचूर्णेन उद्वर्तनं कृत्वा तप्तोदकेन स्नापयेत्. ततः चन्दनम् आलिप्य स्नानं कारयेत्. ततो अङ्गवस्त्रं कृत्वा श्याममूर्तौ पुष्पतैलागुरुसारौ आलिप्य अन्यत्र एतद् अकृत्वा कुलहीकण्ठवस्त्रादीनि समर्प्य यथाशक्त्या आभरणानि समर्पयेत्. श्यामे नेत्रालङ्कारो अन्यत्र अञ्जनं गुञ्जामालां मयूरचन्द्रिकां प्रसूनमालां च समर्पयेत् वस्त्राणाम् उपरि अगुरुसारं समर्पयेत् अङ्गरागं च. मृगमदं पिष्ट्वा तन्मध्ये यत्किञ्चित् कर्पूरचन्दने प्रक्षिप्य कपोलौ मण्डयेत्. ततः चन्दनयुते तुलसीदले उभयोः चरणयोः स्थापयित्वा -

प्रकृतम् अनुसरामः : तत्र पञ्चामृतस्नापनानन्तरं भगवति बाह्येन्द्रियानुरागजननपूर्वकं हि मनोबुद्ध्यहंकारचित्तेषु तत्प्राकट्यतदनुरागयोः अभीप्सितत्वेन पूर्वं तदेव उपदिशन्ति अङ्गवस्त्रं कृत्वा इत्यादिना अनवसरं विदध्याद् इत्यन्तेन भागेन. एतेन भगवत्स्वरूपे निरोधसाधिका सपर्या उपदिष्टा इति ज्ञेयम्.

तथाहि भागवते तावत् “स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः, वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने, करौ हरेः मन्दिरमार्जनादिषु, श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये, मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ, तद्भृत्यगात्रस्पर्शे अगंसंगमं, घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमन्तुलस्याः, रसनां तदर्पिते, पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे, शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने, कामं च दास्ये नतु कामकाम्यया, यथा उत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः” (भाग.पुरा. ९।४।१८-१९) इति उपदर्शितविधा सर्वात्मभावरूपां निरोधरूपां वा भक्तिं भगवति प्रकटयितुम् उपदेशोऽयम्.

श्रीमदाचार्यचरणैरपि “हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा, श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः... यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा विनिग्रहः तस्य कर्तव्यः इति निश्चयः” (निरो.लक्ष. १७-१९) इति निरोधलक्षणे, भक्तेः निरोधरूपां सम्पादयितुं, एतस्यैव उपदेशः कृतो ज्ञेयः. भक्तेः शुद्धिः तावद् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका हि भगवति अनन्यासक्तिरिति सैव निरोधावस्थापन्ना भक्तिः ज्ञेया. ताञ्च प्रकटयितुं कस्य-कस्य इन्द्रियादेः केन-केन भगवद्गुणधर्मेण भगवति निरोधः सिद्ध्यति तदपि उपपादितं श्रीमदाचार्यचरणैः :

“रूपेण मोक्षदः प्रोक्तो रसेन आनन्ददायकः, गन्धेन भक्तिदः प्रोक्तः स्पर्शेन अखिलतापनुत्, मनोहरस्तु नादेन योगेन आत्मप्रवेशदः, कालमोक्षप्रदो द्विष्टः, स्वामी सर्वसुखप्रदः, हीनभावाद दुःखदः च, केवलः सकलार्थदः, मितो योगप्रदः प्रोक्तो, भिन्नो मृत्युप्रदः स्मृतः, यथास्थितो ज्ञानदः च, स्नेहाद् वश्यो भवेद् ध्रुवम्.”

(त.दी.नि. ३।६।८-११)

इह दिव्यैः भक्तार्थाविष्कृतैः रूपादिनादान्तैः भगवान् भक्तानां चक्षूरसनघ्राणत्वक्कर्णानां लौकिकविषयासक्तिं त्याजयित्वा स्वस्मिन् अनन्यासक्तिं सम्पादयति.

तथाच योगादि-स्नेहान्तेषु मध्ये -

१.योगयोगेश्वरतया भगवान् 'योगेन स्वस्मिन् प्रवेशं ददाति; इत्येतेन आरूढयोगिनो मनसो निरोधः उक्तः. '‘मितो’ नाम बुद्ध्या सम्यक्तया अवधारितो बुद्धिप्रेरको भगवान् आरूढ्ये अधिकारिणे योगप्रदो भवतीति बुद्धेः निरोधः सूचितः.

२.यद्यपि “‘ईश्वरोऽहम् अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी आढ्यो अभिजनवान् अस्मि को अन्यो अस्ति सदृशो मया... इति अज्ञानविमोहिताः” (भग.गीता.१६।१४-१५) इति भगवद्गीतोक्तन्यायेन भगवतः हीनम्भावुकानां दैत्योपमानां दृप्तानां भगवान् दुःखानि दत्त्वा अहंकारं निर्मलं करोति परन्तु ‘भगवति ‘दासोऽहम्’ इति दैन्यभावोपेतेभ्यो दैवजीवेभ्यः सेवकेभ्यस्तु स्वसेवया भगवान् सर्वाण्यपि सुखानि यच्छति. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः “‘ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा संधातस्य विलीनत्वाद् भक्तान्तु विशेषतः सर्वेन्द्रियैः तथाच अन्तःकरणैः आत्मनापि हि ब्रह्मभावात् भक्तानां गृहएव विशिष्यते” (त.दी.नि.१।५०-५१) इति सिद्धं स्वसेवकानां भगवान् सर्वसुखप्रदो भवति इति. एवं ‘,‘द्विभ्यामपि द्विप्रकारकयोः अहंकारयोः द्विप्रकारकएव निरोधो निरूपितः.

३.७.१३,१४ द्वेषज्ञानस्नेहरूपभावान् जनयित्वा भगवान् क्रमशः प्रवाह-मर्यादा-पुष्टिमागीयजीवात्मनां स्वचिदंशभूतानां स्वस्मिन् निरोधं कारयति इति निरूपयन्ति. त्रयाणामपि निरोधानां प्रकारास्तु भिन्नाएव मारणमोचनांगीकरणादिरूपाः.

ननु इह भगवन्मूर्तौ पुरुषोत्तमरूपतासम्पत्तेः प्रागुद्दिष्टायाः सेवायाः नैरर्थक्यं कुतो न इति चेत्, न, “‘‘स्नेहाद् वश्यो भवेद् ध्रुवम्.” इत्युक्त्या पुरुषोत्तमरूपतासम्पत्तेः प्रागपि स्वमूर्तौ भक्तस्य स्नेहानुभावं दृष्ट्वा भगवान् भक्तवश्यो भूत्वा तदर्पितां सपर्यां मूर्तिरूपेण स्वीकरोति इति अभ्युपगमस्य आवश्यकत्वात्. तदेतद् भागवते “‘यद्यदधिया त उरुगाय विभायन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय” (भाग.पुरा.३।९।११) इत्यस्य पद्यस्य सुबोधिण्यां श्रीमदाचार्यचरणैः विवृतं “‘तव यद्यद् रूपं भक्ताः विभायन्ति तत्तद् वपुः - ब्रह्मरूपं वैकुण्ठरूपं अवताररूपं वा - देव प्रकटीकरोषि. तत्र हेतुः सदनुग्रहाय इति. संश्रुतं असौ अनुग्रहश्च. ज्ञानिषु अनुग्रहमात्रम् अत्र अबाधितो अनुग्रहः. तदा अत्रैव सायुज्यादिकं सर्वमेव उपपद्यते भक्तेच्छानुसारेण” (सुबो.३।९।११) इति. अन्यत्रापि -

“‘‘कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः उदासीनतया उद्भेदाद् नहि

सर्वात्मना फलम्. भक्तौ अत्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः आत्मानं च स्वयं दद्यात्.”

“‘पिता चरेद् यथा बाले सुखं भक्ते तथा हरिः, प्रेम्णैव सर्वतो अत्यर्थं गोपीनां कामदो यतो, अच्छिद्रसेवनात् चैव निष्कामत्वात् स्वयोग्यतः द्रष्टुं शक्यो हरिः सर्वैः नान्यथा तु कथञ्चन. दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केनचित् सर्वेन्द्रियोपश्रुत्या च तुष्यति आशु जनार्दनः... सेवनं स्वयोग्यानुसारेण नतु अल्पं बहु वा प्रयोजकम्.”

“‘प्रेम्णा सेवातु सर्वत्र सेव्यवश्यत्वसाधनम्.”

(<sup>१</sup>त.दी.नि.२।३१२-३१३, <sup>२</sup>तत्रैव प्र.३१५-३१७, <sup>३</sup>३२३).

इह प्रथमे वचने “‘भक्तौ अत्यादरेणैव भगवान् प्रकटो भूत्वा आत्मानं ददाति” इत्युक्तेः स्वमूर्तावपि प्राकट्यपूर्वकं स्वात्मदाने जीवात्मनिष्ठस्य अकृत्रिमभक्त्यनुभावप्राकट्यस्यैव पूर्वकालिकत्वं भगवतोऽपि प्रमाणबलेन जीवोद्भूतौ अपेक्षितमेवेति तद्द्योतकाएव मूर्तौ पुरुषोत्तमतासम्पत्तेः प्रागपि भक्त्युपचाराः खलु आवश्यकाएव. द्वितीये वचने तावद् “‘‘अच्छिद्रसेवनात् <sup>१</sup>निष्कामसेवनात् <sup>२</sup>स्वयोग्योपचारसमर्पणाद् भगवान् द्रष्टुं शक्यः नान्यथा” इति निरूपणेन स्वीयभजनस्य जनतायै प्रदर्शनार्थकता द्रव्योपार्जनार्थकत्वादिरूपा सकामता स्वपरमार्गीयसर्वदर्शनार्थजनानां द्रव्येण भगवत्सुखविचारपाषण्डरूपता च इत्येवमाद्याः तत्कुरीतयो व्यावर्तिताः स्वमार्गे. तृतीयेस्मिन् वचने एतादृश्येव सेवा प्रेम्णा जायमाना सेव्यवश्यकरी भवति इत्येवं भगवत्सपर्यारीतिः उपदिष्टा, यथा निजात्मनः निखिलानाम् आत्मीयपदार्थानां च भगवति विनियोगः सुकरश्च भवेत्.

अस्याएव भजनरीतेः नैकविधाः इतिकर्तव्यताः प्राधान्येन <sup>१</sup>सिद्धान्तमुक्तावल्यां <sup>२</sup>नवरत्नप्रकाशे <sup>३</sup>भक्तिवर्धिन्यां <sup>४</sup>निरोधलक्षणे “पञ्चाश्लोक्यां <sup>५</sup>चतुःश्लोक्यां च -

“‘‘चेतस्तत्प्रवर्णं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा”, “‘‘दाने हि न स्वविनियोगः नतु नतु निवेदने”, “‘‘बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः”, “‘‘यच्च दुःखं यशोदायाः... गोकुले... तद् दुःखं स्याद् मम क्वचित्... गोकुले... यत् सुखं समभूत् तद् मे भगवान् किं विधास्यति... उद्धवागमने जातः उत्सवः सुमहान्... तथा मे मनसि



क्वचिद्”, “‘‘अनुकूले कलत्रादौ विष्णोः कार्याणि कारयेद् उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्”, “‘‘स्वस्य अयमेव धर्मो हि... प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्तां ब्रजेत्... यदि श्रीगोकुलाधीशः धृतः सर्वात्मना हृदि... स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्”’.

( कारि.२, न.प्र.२, कारि.३, कारि.१-३, कारि.१-४ ).

इत्येमादिग्रन्थेषु कण्ठोक्तैः निर्देशैः महाप्रभुणा प्रभुचरणेन च उपदिष्टाः. तथाहि भगवत्सेवा तावत् स्वतनुजा स्ववित्तजा च कर्तव्या इति, स्वकृतस्य वा परकृतस्य वा भगवते द्रव्यादिदानस्य पुनः स्वोपभोगे उपयोगो न कार्यः इति, स्वसमर्पितस्यैव वस्तुनो भगवद्भोगानन्तरं भगवत्प्रसादत्वेन स्वार्थम् उपभोगः कर्तव्यः इति, भगवत्सेवा च स्वगृहएव करणीया नान्यत्र तद् उक्तं “‘योहि प्रभुः भवति स स्वगृहे तिष्ठति नतु अन्यगृहे. यदि अस्मद्गृहे त्वया न स्थितं स्यात् तदा अस्मन्नाथो न भवेः”’ ( सुबो.१०।३८।१२ ) इति, अनुकूलस्वपरिवारजनैः सहैव करणीया इति, नान्यैः अस्वमार्गीयैः वित्तादातृभिः दर्शनार्थिभिः सह इति, भगवत्सेवा च भगवदितरधर्मार्थकाममोक्षांकाक्षापरित्यागेनैव पञ्चमपुरुषार्थतया अनुष्ठेया इति, ब्रजभक्तजनभावभावनात्मिकैव स्वकीयभगवत्स्वरूपस्य सेवा कर्तव्या इत्येवमादिरूपाः.

ताइमाः उपदिष्टाः इतिकर्तव्यताः श्रीमदाचार्यानुग्रहं विना मूढजनमतौ नैव समायान्तीति “ ‘‘उत्सर्गो” नाम दानम् ; अर्थात् त्यागः स्वेच्छया कृतः इति. तथाहि जीवात्मा यदा... समर्पयति... तदा सएव भवति भगवदनुग्रहैकलभ्यः उ त स र्गः : इ ति ’ ’ इ त य ए त ा दृ क् प्र ल प न न त नु श्रीमद्वल्लभवाक्सुधोदधिगाम्भीर्यावगाहनबुद्धिरहितस्य तत्तटे मुधा उत्कूर्दनैकपुरुषार्थमतिमर्कटोपमस्य महाकविजनोचितस्वच्छन्दकल्पनाकुशलस्यैव वा महत् कर्म ! यस्मात् श्रीपुरुषोत्तमचरणैरेव -

“‘‘दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः ‘तुभ्यम् अहं सम्प्रददे न मम’ इत्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यो मनोव्यापारः. तस्मिन् कृते सति हि निश्चयेन न स्वविनियोगो, दत्तापहारदोषोत्पादकत्वात्. निवेदनन्तु तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः ‘तुभ्यं समर्पयामि,

निवेदयामि’ इत्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यः तद्विलक्षणो मनोव्यापारः. तस्मिन् कृते तु न स्वविनियोगो दोषाय, दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वाद्”’.

( नवरत्नप्रका.१ )

इत्यत्र दानसमर्पणयोः भृशं पार्थक्यस्य दर्शितत्वेऽपि यद् अन्यथा निरूपणं तत्तु मूढत्वं वा महासाहसिकत्वं वा उभयमपि वा वक्तुः प्रकटयति.

एवंहि अन्येऽपि केचन किमपि चिन्तयन्ति तथाहि “‘‘क्रीडार्थम् आत्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपरे ईश कुर्युः”’ ( भाग.पुरा.८।२२।२० ) इति उक्तेः स्वस्वामिकत्वाभिमानं विना तनौ वा वित्तादिषु वा स्वत्वस्य निरूपणानर्हतया स्वतनुवित्ताभ्यामेव भगवत्सेवा विधेया इति हठस्य कुधीत्वपर्यवसायितया आविद्यकयोः अहन्ताममतयोः त्याज्यतया च सर्वत्र भगवत्स्वामिकत्वानुसन्धानरूपात्मनिवेदनभावना- तोऽपि एवं हठस्य विरुद्धतया स्वपरेषां येषांकेषाञ्चिदपि स्वभगवत्सेवादार्शनार्थिजनानां भक्तानां तनुवित्तविनियोगे न दोषावहं किञ्चिद् भावनीयम् इति. तदेतद् लाभपूजार्जनैकमत्या भगवत्सेवायां प्रवृत्तानाम् अकाण्डताण्डवं किल ! यस्माद् “‘एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहुः ‘चेतस्तत्प्रवर्णं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा’ उक्तसेवासाधने इतरे इति ‘तत्...’ इति. वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृता कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तपदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्व सर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः”’ ( सि.मु.प्र.२ ) इति अहन्ताममताद्योतकं ‘स्व’पदम् असकृत् प्रयुञ्जानाः प्रभुचरणाः किमु भगवत्सेवकान् कुधियः कर्तुं वाञ्छन्ति ? अस्मत्सम्प्रदाये एवं विचारयन्तं त्वां धिक्-धिक् ! तस्माद् यद्वि पुरुषोत्तमाः आहुः “‘वस्तुतस्तु सर्वस्य भगवदीयत्वेऽपि... रमणार्थं द्वितीयनिर्माणदिश्रवणात् तेन आपादिता या तत्तत्पदार्थे जीवस्य स्वत्वस्वीयत्वाभिमतिः तत्परित्यागेन तेषु भगवदीयत्वस्य विज्ञापनम् इति यावद्”’ ( सि.र.वि.२ ) इति; तत्रापि भगवदस्वामिकमनोभावोपेतस्वत्वस्वीयत्वाभिमतयोरेव त्यागो नतु भगवत्स्वामिकत्वमनोभावविशिष्टस्वत्वस्वीयत्वाभिमतयोः त्यागः इह तेषां विवक्षितइति. अन्यथा अन्योन्यकलत्रेष्वपि ममतात्यागेन परस्परप्रेमभोगे स्वैरिणीनां कृतेऽपि ब्रह्माद्वयज्ञानं सर्वत्र भगवदीयत्वानुसन्धानं वरदानरूपं भवेत्.



अपरः कश्चन मूढः परम् एवम् इह प्रजल्पति यत् प्रभुचरणोक्तस्य “एतादृश्यौ ते तत्साधिके न” इति निषेधस्य परेषां तनुवित्ताभ्यां कृतयोः सेवयोः साधिकात्वाभावएव तात्पर्यं नतु परतनुवित्तयोः मानससेवासाधनत्वाभावे. तथाच वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृता कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यावपि भगवत्सेवे मानससेवासाधनेतु भवतएव.

अहो अमुष्य मनीषाप्रकर्षः ! यस्मात् ‘साधनं’ नाम <sup>क</sup>हेतुः वा <sup>ख</sup>करणं वा ? तत्र हेतुः चेत् सोऽपि <sup>क/१</sup>ज्ञापकं वा <sup>क/२</sup>कारकं वा ? न तावद् <sup>क/१</sup>आद्याद्यं, यस्मात् सिद्धान्तमुक्तावल्यां नहि मानससेवानुमितिः उपदिष्टा किमुत “कृष्णसेवा सदा कार्या” इति क्रियारूपायाएव तस्याः उपदेशस्य उपलम्भात्. न <sup>क/२</sup>आद्याद्वितीयं, विकल्पासहत्वात्. तथाहि कारकत्वं हि साक्षात् साधनं वा भवेत् परम्परया साधनं वा ? न तावत् साक्षात्साधनत्वं वाच्यं, तस्य साधकत्वापरपर्यायकरणत्वाविशेषात्. तथाहि “साधकतमं करणम्” (पाणि.सू.१।४।४२) इत्यत्र ‘तमप्’प्रत्ययार्थस्तु प्रकृष्टोपकारकत्वेनैव अभिमतः. प्रकृष्टोपकारश्च पुनः “क्रियायाः फलनिष्पत्तिः यद्व्यापाराद् अनन्तरं विवक्ष्यते यदा यत्र करणं स्यात् तदा स्मृतम्” (सि.कौ.त.बो.१।४।४२) इति करणस्य साक्षात्साधकत्वाविशेषोपलम्भात्. ततश्च “तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा” इत्यत्र तनुवित्तजायाएव करणत्वं नाम मानससेवाप्रकृष्टोपकारकत्वमेव अभिप्रेतम्. एतेन <sup>ख</sup>करणत्वविकल्पोऽपि निराकृतएव.

तस्मात् परम्परया साधनत्वं हि अवशिष्यते. तत्र स्वमार्गीयगुरुणा अनुष्ठितायाः स्वगृहाधिष्ठितस्य सेव्यप्रभोः परतनुजसेवायाः वा परवित्तजसेवायाः वा तथाविध-प्रकृष्टोपकारकत्वाभावेऽपि परम्परया उपकारकत्वे उच्यमाने कुतः प्रकृष्टोपकारक-स्वतनुविजसेवापरित्यागेन परम्परया उपकारिणी सेवा अनुष्ठीयते इति विचिकित्सायां यदि धनार्थित्वं प्रयोजनं तदा देवलकत्वापत्तिः. यदि लोके भजनकर्तृत्वेन प्रख्यातिः चेत् तदापि सेवायाः फलरूपताहानिः. यदि अनुगामिनां वैष्णवानां भगवत्सेवाबोधप्रदानं चेत् तस्यापि परद्रव्यग्रहणं विना सम्भवाद्व्यथोपपत्तिः. यदि प्रदर्शनेन जनतोद्धृतिः चेत् प्रयोजनं तस्यापि परद्रव्यं विनैव शक्यत्वाद् सैव अन्यथोपपत्तिः.

किञ्च स्वमार्गानुगामिभिः निजगेहेषु मुख्यपरिचारकत्वेन तनुजसेवा मुख्यमनोरथित्वेन द्रव्यं च परेषां गोस्वामिकुलोत्पन्नानां न अनुमन्यते तेषां भगवत्सेवायाः मानससेवासाधिकात्वं न भवेत् चेत् तदा आचार्यचरणैः प्रभुचरणैः वापि ८४ सेवकेभ्यः २५२ सेवकेभ्यो वा कुतः तदीयप्रभुसेवायै द्रव्यसमर्पणं न कृतं ? कुतश्च आधुनिकैः तद्वंशजैरपि गोस्वामिभिः सर्वैः स्वानुगामिजनानां सेव्यप्रभोः तनुजसेवा वित्तजसेवा वा न अनुष्ठीयते ? इति प्रष्टव्यो भवति काव्यकल्पनया सिद्धान्तकल्पो देवानां पशुः !

तथैव श्रीमद्गोपीनाथप्रभुचरणैः “स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेद्” (सा.दी.१०८) इति यद् अनुज्ञापितं तत्रापि ‘स्वीयान्’ इति पदं स्वसेव्यभगवत्स्वरूपदर्शनाधिकारिविशेषणतया योजितम्. तत्रापि अभिप्रेतं तावद् इदमेव यद् अभक्तान् स्वीयान्, भक्तान् च अस्वीयान्, प्रति स्वसेव्यं भगवत्स्वरूपं तदीयां सेवां वा न प्रदर्शयेद् इति. ननु “न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः सज्जते अस्मिन् अहम्भावो देहे वै... न यस्य ‘स्वः-परः’ इति वित्तेषु आत्मनि वा भिदा... सवै भागवतोत्तमः” (भाग.पुरा.११।२।५१-५२) इति भागवतोत्तमस्वरूपोक्तेः तथैव “अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्” इति सुभाषितोक्तेः च सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिपूर्विकायां भगवदीयत्वानुसन्धानपूर्विकायां वा खलु समारब्धायां भगवत्सेवायां कीदृशोऽयं पुनर्व्यामोहाविष्करणं यत् केचनैव स्वकीयाः भवन्ति अपरेतु न, केचन खलु भगवदीयाः गण्यन्ते इतरे पुनः न ? इति चेत् न, धनेहया स्वपरभेदबुद्धिं निराकुरुध्वे उत धनानीहया ? आद्येतु “‘कृष्ण’शब्दो दुष्टमुखाद् निर्गतो मालिन्ययोगात् मलिनमेव वक्ति” (सुबो.१०।७१।३२) इति न्यायेन न सर्वत्र भगवदीयत्वं भवदीहितं प्रत्युत परधनापहारएव. अपिच भवानेव भवति प्रष्टव्यो यदि यथोपदिष्टं न भवदभिमतं तदा स्वसेव्यभगवत्प्रदर्शनं किम् अस्वीयान् भक्तान् प्रति चिकीर्षितम् ? उत स्वीयान् अभक्तान् प्रत्यपि वा तत् चिकीर्षितम् ? तत्र आद्ये किं तान् भक्तान् स्वकीयान् कर्तुम् आहोस्वित् तान् भक्तान् सभाजयितुम् ? न तावत् स्वकीयान् कर्तुम् इति सम्भवदुक्तिकं, यतोहि केचन स्वकीयाः कर्तव्याः अपरे न इति पुनः वैपरीत्याविष्करणेन पुनः लघुचेतस्त्वापत्तिदोषग्रासात्. तत्सभाजनस्यतु सम्मुखे अभिगमनाभिवन्दनस्वगृहानयनपादप्रक्षालनादिभिरपि शक्यत्वेन स्वसेव्यप्रदर्शननियतेः अन्यथासिद्धिः.

तथाच स्वीयान् अभक्तान् प्रति स्वसेव्यस्य भगवतः प्रदर्शनम् इति पक्षो अवशिष्यते. तत्रापि प्रयोजनाकांक्षायां तेषु <sup>१</sup>भक्तिबीजभावप्रकटीकरणं <sup>२</sup>तद्वृद्धीकरणं वा कल्प्येत. तदपि सेवायाः <sup>३</sup>मुख्यं वा <sup>४</sup>आनुषंगिकं वा प्रयोजनं स्वीक्रियेत ? <sup>५</sup>अभक्ततत्त्वनिश्चयोऽपि पुष्टिजीवत्वनिश्चयपूर्वकः <sup>६</sup>तादृशीं चिन्तां विनैव सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिजातभगवदीयत्वनिश्चयपूर्वको वा ?

तत्र नाद्यः <sup>१</sup>भक्तिबीजभावप्रकटीकरणस्य सत्संगादिनापि शक्यत्वेन अन्यथैवोपपत्तेः. <sup>२</sup>तद्वृद्धीकारसाधनान्यपि श्रीमदाचार्यचरणैः भक्तिवर्धिन्यां “बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा... भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः” (भ.व.२) इति अन्यान्येव उपदिष्टानि. <sup>३</sup>स्वीयान् अभक्तान् प्रति स्वसेव्यप्रभोः प्रदर्शनस्य मुख्यं प्रयोजनं तेषु बीजभावस्य प्रकटनं तद्वृद्धीकरणं वा अभ्युपगम्यते चेत् तदा सेवायाः फलरूपताहानिः. अथ <sup>४</sup>आनुषंगिकं हि तत् प्रयोजनं चेत् तदापि स्वीयान् अभक्तान् प्रत्येव तदंगीक्रियमाणे पुनः लघुचेतस्त्वापत्तिः तदवस्थैव. नच “भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृद्” (सर्वो.स्तो.२२) इति नामवदाचार्यान्ववायत्वसार्थकत्वाय पुष्टिजीवत्वनिश्चयपूर्वकं येषु स्वीयेषु अभक्ततत्त्वनिश्चयः तद्वेतुकमेव स्वसेव्यसेवाप्रदर्शनम् इति वाच्यं, श्रीमद्गोपीनाथप्रभुचरणैः “माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां शास्त्राणाम् उपयोगो अत्र तत्र आकांक्षा गुरोः भवेत्” (सा.दी.९) इति वदद्भिः नहि स्वसेव्यप्रदर्शनं साधनत्वेन इह उपदिष्टम्. <sup>५</sup>तादृशीं चिन्तां विनैव सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिजातभगवदीयत्वनिश्चयपूर्वको हि अभक्ततत्त्वनिश्चयः चेत् तदा प्रावाहिकजीवानां मार्यादिकजीवानामपि पुष्टिभक्तौ अंगीकारे तथाविध- जीवभेदायैव जलाञ्जलिः वितीर्णा स्यात्.

ननु एवं सर्वत्र ब्रह्मतादात्म्यबुद्ध्यनुरोधेन समारब्धाय पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाकर्मणेऽपि वितीर्णेव भाति जलाञ्जलिः इति चेद् उपशमय द्रव्यलोलुपतां समनुसर महाप्रभोः उपदेशम् अथ विदांकुरु स्वमार्गरहस्यम् ! तथाहि द्रव्याद्वैतसोपानाधिरोहणं विना यथा क्रियाद्वैतानुवर्तनं पाषण्डैकपर्यवसायि स्यात् तथा तदुभयसोपानाधिरोहणं विना भावाद्वैतानुवर्तनमपि लौकिकेषु विषयेषु पाषण्डैकपर्यवसायि स्यादेव. नच तथात्वे पुष्टिमार्गीयपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारस्यापि शास्त्राविहिततया पाषण्डैकपर्यवसायित्वं

शंकनीयं, पुष्टिमार्गस्य सर्वशास्त्रप्रमाणोपोद्बलितया अस्मदाचार्यवाण्या सिद्धत्वात्. तथाहि -

“अहम् आत्मा आत्मनां... प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः..”

“कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते..”

“द्वेषरागयोरपि मोक्षसाधकत्वं जातं... तस्मात् कृष्णावतारे यः कश्चन धर्मो मोक्षं दास्यति..”

“तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरम् आश्रितानां सर्वार्थदं स्वकृतवद् विसृजेत को नु को वा भजेत् किमपि विस्मृतये अनु भूयै किंवा भवेत् न तव पादरजोजुषां नः. नैव उपयन्ति अपचितिं कवयः तव ईश ब्रह्मायुषापि कृतम् ऋद्धमुदः स्मरन्तः यो अन्तर्बहिः तनुभृताम् अशुभं विधुन्वन् आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतं व्यनक्ति..”

(भाग.पुरा.३।९।४२,सुबो.१०।८७।४७,भाग.पुरा.१०।२६।१५-

११।२९।५६)

इति भावाद्वैतमूलकं भगवन्मूर्तौ पुरुषोत्तमप्रतिष्ठापनम् प्रागपि द्रव्याद्वैतक्रियाद्वैत- सिद्धेः निर्दुष्टम्. नचैतावता सर्वत्र तदुपसंहारः आत्मश्रेयसे अवकल्पेत. तस्मादेव हेतोः यथोपदेशं भगवत्सेवांगभूतसमर्पणे क्वचित् तादात्म्यघटकद्वैतमूलकः सदसद्विवेकः, यथा कर्मेन्द्रियविषयीभूतासु हानोपादानोपेक्षारूपासु क्रियासु ज्ञानेन्द्रियविषयीभूतेषु रूपरसगन्धादिषु च यथाशास्त्रविधिः सदसद्विवेकः तथैव “ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति” इत्यस्य व्याख्याने आचार्यचरणाः प्रतिपादयन्ति “शास्त्रेण तरतमभावेन ज्ञानानि निरूपितानि” (सुबो.११।२।४६) इति. तस्माद् यथोपदेशं क्वचिद् द्वैतं क्वचिच्च अद्वैतं दिदृक्षणीयं न स्वैरवृत्त्या.

ननु कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्या पुरुषेच्छातन्त्रा क्रिया. दर्शनन्तु ज्ञानरूपं न पुरुषेच्छातन्त्रतया अवधार्यते, वस्तुतन्त्रं किल तद् आमनन्तीति. तस्मात् कुतः क्वचिद् द्वैतं क्वचित्तु पुनः अद्वैतं दिदृक्षणीयतया प्रतिपाद्यते? इति चेद् नच अयम् अस्ति नियमो यत् सर्वाभिः हि क्रियाभिः पुरुषेच्छातन्त्रतयैव भवितव्यम् इति. दृश्यते हि श्वासोच्छ्वासकासांगकम्पनपक्ष्मबाहुस्फुरणादीनां बह्वीनां क्रियाणां

पुरुषेण अनीहितानामपि शरीरे जननम्. रूपरसगन्धस्पर्शशब्दादिषु इन्द्रियविषयेषु समकालमेव तत्तदिन्द्रियसंनिर्कृष्टेष्वपि पुरुषेच्छाप्रयुक्तस्य कस्यचिद् विशेषविषयस्य ग्रहणम्, उपेक्षितस्य इतरस्य अग्रहणं च इति. चक्षुःसंनिर्कृष्टे च मुखेऽपि पुरुषेच्छावशेन यदि मुखस्थनेत्रदिदृक्षया नेत्रदर्शनं तदा तदितरादर्शनम्. यदि चिबुकाधरोष्ठदिदृक्षया चिबुकाधरोष्ठदर्शनं तदा नेत्रादर्शनमिति नात्र बहु चिन्तनीयं किञ्चित्

सिद्धं तत् पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाकर्मणि पुरुषसूक्तार्थानुसन्धानरूपं ब्रह्मतादात्म्यघटकद्वैतदर्शनं, तथाप्रतिष्ठापितस्य भगवन्मूर्तेः भजने पुनः भजनीयभजनकर्तृभावानुकूलं द्वैतदर्शनं च. तथैव तद्भजनोपगिद्वयसम्पादने ब्रह्मतादात्म्यघटकद्वैतमूलकं स्वपरद्रव्यभेदविवेकेन द्रव्यादेः अंगीकरणं तेन च भगवत्सेवौपयिकसामग्रीसम्पादनं तस्य भगवद्भोगानन्तरं भगवत्प्रसादत्वेन स्वीयोपभोगः च. स्वस्वीयपरिजनासमर्पितस्य असमर्पितस्य वा द्रव्यादेः स्वीयभगवद्भजने अविनियोगः स्वोपभोगार्थं च अनङ्गीकारः इति. एवमेव भक्तेः पुष्टिभक्तित्वम् अन्यथातु उदरपोषणाय आजीविकात्वमेव. तद् अलं आधुनिकानां वित्तैकचित्तानां आचार्यवंशजानां भगवत्सेवाच्छलचिन्तनेन

तद् आहुः

“निर्गुणस्य भक्तियोगस्य तत् लक्षणं ... या अहैतुकी भक्तिः... भक्तिः च प्रेमपूर्विका सेवा. हेतुः=फलानुसन्धानं तद्वहिता अहैतुकी अनिमित्ता. अनेन सगुणा वारिता ... नतु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम्.”

“ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां न भक्तिविलासः... ब्रह्मानन्दे द्वयमपि अव्यक्तं जले निमग्नस्य जलपानवत्. अनुभवरसो हि भिन्नतया स्थितौ भवति.”

“असत्संगो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः.”

(सुबो.३।२९।१२, १०।२६।३९, १०।८४।२२)

इह प्रथमे वचने ब्रह्मस्वरूपानुरोध्यभेदप्राधान्यम् उपगम्य अहैतुकी अव्यवहितैव भक्तिः निर्गुणभक्तितया निजाचार्याभिमतता न पुनः जीवेश्वरयोः

ऐच्छिकभेदप्राधान्यानुरोधिनी सगुणा सहैतुकी भक्तिः. तथा भक्त्या भजनीयस्वरूपवरणं तदर्थं च ब्रह्मजगतोः अभेदमूलिकैव प्रतिष्ठानुष्ठितिः च. युक्तं ततो वृत्ते प्रतिष्ठाप्ये भगवत्स्वरूपे अभेदएव दिदृक्षणीयः इति. द्वितीयेस्मिन् वचने तादृश्याः निर्गुणभक्तेः स्वहृदि प्रादुर्भावे तु अनुष्ठेये भगवत्सेवने न सर्वत्र ब्रह्मदर्शनानुरोधिब्रह्मानन्दस्य प्राधान्यं किन्तु भजनीयभगवत्स्वरूपभजनानन्दस्यैव ऐच्छिकद्वैतमूलकस्य प्राधान्यम् इति प्रतिपादनम्. तथा तृतीयेस्मिन् वचने तथाप्रादुर्भूतभक्तिपोषकसत्संगार्थं पुरुषेषु सदसद्विवेकोऽपि आवश्यकएव इति प्रतिपादयिषितम्.

नच इह स्वारूढशाखोच्छेदनमौद्ध्यं शङ्कनीयं, समारूढा हि शाखा नच ऐकान्तिकाद्वैतवृक्षस्य नापि ऐकान्तिकद्वैतवृक्षस्य वा किमुत भेदसहिष्णुभेदरूपतादात्म्यतरोरेवेति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. तस्मादेव “तत् त्वम् असि” (छान्दो.उप.६।८।७) इति वचने ‘त्वं’पदवाच्यस्य जीवस्यैव ‘तत्’पदवाच्यब्रह्मात्मकता खलु ‘असि’क्रियापदेन बोध्यते न पुनः ‘तत्’पदवाच्यस्य ब्रह्मणो जीवात्मकता, जीवभावापन्नमपि

॥५.पुनः “सेवाकृतिः गुरोराज्ञा” इत्युक्तेः भगवत्सेवनार्थं निजाचार्यवन्दनं मध्येः

पुनः श्रीमदाचार्यचरणसरसीरुहध्यानं कुर्यात् :

“चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः।

स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥”

ब्रह्म जीवेभ्यो व्यतिरिच्यते इति हेतोः न किञ्चिद् अनुपपन्नम्.

इतः परं प्रतिष्ठाप्यस्य भगवतः पुरुषोत्तमस्य सेवायै पुनः श्रीमदाचार्यचरणकमलवन्दनं दैन्यभावोद्बोधनाय विभावयन्ति श्रीमदाचार्यचरणसरसीरुहध्यानम् इत्यारभ्य प्रणमामि मुहुर्मुहुः इत्यन्तेन भागेन. नेह लौकिकवस्तुविषयिणी चिन्ता निवर्त्यत्वेन विवक्षिता, भक्तेः सकामतापत्या सगुणत्वदोषप्रसक्तेः. ननु केयं पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाकर्मणि व्यापृतस्य पुरुषदोषरूपचिन्तानिवृत्तौ मनश्चाञ्चल्यरूपा अप्रतिष्ठा उच्यते : “माम् एकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच” (भग.गीता.१८।६६) इति भगवद्वचने “माशुच” इतिपदप्रयोगोपलम्भात् सर्वविधाध्यात्मिकचिन्तानिवृत्तिसहितैव स्वशरणागतः उपदिष्टा.स्वमार्गे हि तावद् भक्तेः पूर्वं प्रपत्तिः कर्तव्येति

तद्भावविभावभूतस्य सर्वतो रक्षकस्य भगवद्रूपस्य सेवाभावविभावभूतेन भगवद्रूपेण अभेदं बोधयितुमपि चिन्तानिवृत्तिम् उपदिशन्ति. मा हि वयं सर्वविधपापशोकादितो भगवतः रक्षकत्वभावं स्वहृदि उज्जिष्मतेति निजात्मोद्धारविषयिणी, स्वकीयानां च निवेदनविषयिणी, निवेदितानां च पुनः भगवत्सेवाविनियोगविषयिणी, भगवत्कृतनिवेदनाङ्गीकारविषयिणी, सेवोपयोगिवित्तलाभविषयिणी वा सेवासहकारिसौलभ्यविषयिणी वेति कापि चिन्ता मुधैव इति इह सूचयन्ति प्रभुचरणाः. तस्मात् श्रीमदाचार्यपदपद्मपरागपरितृप्तानां मत्तमधुपोपमानां महाभाग्यवतां भगवदीयानां मनसि नैव ईदृश्यः चिन्ताः सम्भवन्ति इति रहस्यम्.

तस्माद् निजाचार्योपदिष्टरीत्या भगवद्भजने धनिकैः उपाहतेन धनेन विना भगवत्सेवां तत्सुखप्रदां विधातुं न वयं शक्नुम इति धनिकदर्शनार्थ्यागमनचिन्ता वा तादृशी चातुरी वा निजाचार्यवंशजैः नैव कर्तव्या. क्रियामाणायां तदन्यतरस्यां न निजाचार्यभावानुरोधी भगवत्प्रादुर्भावः प्रत्युत प्रादुर्भूतस्यापि भगवतः तिरोभाव एव इति उज्जयिनीस्थब्राह्मण्याः (२५२वैष्ण.वा.३८।१) वार्तायां सिद्धम्.

::६. आत्मसमर्पणोत्तरं क्रमप्राप्तं स्वस्य भक्तिबीजभावरूपं भगवत्सम्बन्धानुसन्धानं तेन भगवतः “एनम् उद्धरिष्यामि” इत्युक्तरीतिकविशेषकृपाविशिष्टस्य स्वरूपस्य आविर्भावभावनाः:

**ततः श्रीकृष्णात्मकं पञ्चाक्षरं महावाक्यं स्वरूपहृदयं स्पृष्ट्वा त्रिवारं पठेत्.**

यच्चापि केनचिद् वाल्लभब्रुवेन स्वकीये ग्रन्थे अस्वसम्प्रदायिकाभक्तबुद्ध्यैव भगवत्प्रदर्शने दोषो नतु भगवद्दर्शनार्थं समागते यस्मिन् कस्मिन्नपि भगवदीयबुद्ध्यै भगवत्प्रदर्शने दोषः कश्चिद् इति कुविमर्शः कृतः तस्य यथोचितं समाधानम् अस्मदीयायाः विशोधनिकायाः तृतीये भागे कृत एवेति विस्तरभिया नेह प्रतन्यते.

एवं सर्वविधचिन्तानिवर्तकनिजाचार्यचिन्तनेन नैश्चिन्त्यलाभपूर्वकं स्वस्मिन् भगवदीयत्वानुसन्धानानुकूलं प्रतिष्ठाप्ये भगवत्स्वरूपे स्वामित्वभावनाविशिष्टं साक्षात्पुरुषोत्तमश्रीकृष्णत्वानुसन्धानम् उपदिशन्ति **श्रीकृष्णात्मकं पञ्चाक्षरमहावाक्यम्** इत्यारभ्य **त्रिवारं पठेद्** इत्यन्तेन भागेन.

ननु किं ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रे पञ्चाक्षराणामेव श्रीकृष्णत्वं न तदितराक्षराणां तदा

८४वार्तायां अम्बालानगरवासिने कायस्थनारायणदासाय तद्गृहे भगवत्सेवायै “गृहे सौकर्याभावात् स्वरूपसेवां कर्तुं त्वं न शक्नुयादिति अष्टाक्षरगद्यमन्त्रोपेतं मद्गुस्ताक्षरं प्रयच्छामि तस्मा एतस्मै भोगं समर्प्य प्रसादं गृहणीयाः” (८४ वैष्ण.वा.५७।१) इति आचार्यचरणैः यद् आदिष्टम् इति तत् कुतः? ततश्च समग्रस्य मन्त्रस्य कृष्णात्मकत्वम् उत पञ्चाक्षरमहावाक्यस्यैव? ननु किम् अत्र युक्तम्?

श्रीकृष्णनाम्नः साक्षात् श्रीकृष्णात्मकत्वम् इति. तत्साहित्येन तु परम्परया भक्तिप्रपत्तिमन्त्राङ्गभूतानाम् अवशिष्टाक्षराणामपि तद्गुणधर्मरूपत्वं च. तत्तु “नामार्थयोः अभेदो हि वेदोऽपि हरिनाम हि नामानि कृत्वा भिवदन् इति वाक्यात् प्रतीयते वेदवेदार्थरूपत्वात् नामैवाखिलशोधकम्” (त.दी.नि.३।६।४१-४२) इत्यत्र निरूपितम्. ननु “रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः” (त.दी.नि.१।१)

इति वचनस्य तदा का गतिः इति चेद् यथा रूपात्मके जगति केषाञ्चिद् रूपाणां “यः क्रीडति” इति कल्पे अन्तर्भावः. केषाञ्चिद् रूपाणां “यो जगद् भूत्वा क्रीडति” इति कल्पे. केषाञ्चित् च रूपाणां “यतो जगत् क्रीडति” इति कल्पे. तथैव नामस्वपि केषाञ्चिद् नाम्नां सच्चिदानन्दता, अन्येषां केवलचिद्रूपता; इतरेषां ध्वन्यात्मकशब्दानां सद्रूपतैव इति. तस्माद् ब्रह्मात्मकत्वे अविशिष्टेऽपि श्रीकृष्णात्मकत्वं पञ्चाक्षरमहावाक्यस्यैव श्रीप्रभुचरणवचनप्रामाण्यानुरोधाद् अङ्गीकर्तव्यः. ननु तदा “भगवते कृष्णाय” इति सप्ताक्षराणामपि श्रीकृष्णात्मकत्वं भवतु समानयोगक्षेमाद् इति चेत् न ‘भगवत्’-‘कृष्ण’शब्दयोः समर्पणसम्प्रदानार्थकतया क्रियाशेषत्वं, पञ्चाक्षरमहावाक्ये तु सम्बोधनार्थकप्रथमाविभक्तेः अनन्यशेषः ‘कृष्ण’पदार्थः. ‘तव’-‘अस्मि’ इति पदयोस्तु “कृष्णस्वामिको अहम् अस्मि” इति अर्थबोधनात् तच्छेषत्वमेव, तत्पूर्वोपात्तस्य ‘दासोऽहम्’ इति पदराशेः अर्थानुरोधात्.

नच “तत् त्वम् असि”, “तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद ‘अहं ब्रह्म अस्मि’ स इदं सर्वं भवति... अथ यो अन्यां देवताम् उपासते ‘अन्यो असौ अन्यो अहम् अस्मि’ इति न स वेद यथा पशुः एवं स देवानां भवति” (छान्दो.उप.६।८।७, बृह.उप.१।४।१०) इति श्रुत्योः निन्दिततया कुतो न “दासोऽहम्” इति बुद्धिः स्वपशुभावायैव भवेत्? कुतश्च “सोऽहं कृष्ण त्वमेवास्मि” इति न भाव्यते?\*

इति वाच्यं, औपनिषदज्ञानमार्गे तथाविधभावनस्य उपकारकत्वेऽपि भागवतीये भक्तिमार्गे तथाविधभावस्य बाधकत्वाभ्युपगमात्. ब्रह्मैवाहं ब्रह्मबुद्ध्या ह्यंशात्मा परमात्मनो, दासोऽस्म्यहं भगवतः तस्मिंस्त्रेधा मतिर् मता. तस्मादेव ब्रह्मजीवतादात्म्योपदेशकेन ब्रह्मसम्बन्धेन जीवस्य भजनौपयिकमाहात्म्यज्ञाने सज्जाते पुरुषसूक्तेन च प्रतिष्ठानुष्ठानेन भगवन्मूर्तेः भजनीयत्वौपयिकमाहात्म्ये सम्पन्ने आत्मात्मीयनिवेदनेन प्रतिष्ठाप्यमूर्तिविषयके पारमात्मिक्यासक्त्यनुकूलबोधे जाते तस्यां साक्षाद् भगवच्छ्रीकृष्णबुद्ध्या सेवनार्थं 'दासोऽहम्' इति भावनं प्रतिपादितं भवति.

तथाहि भक्तिमार्गे तु “दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोः चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः न परिलषन्ति केचिद् अपवर्गमपि ईश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसंग-विसृष्टगृहाः” (१०।८४।२१), “तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह. यत् कर्मभिः यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतः च यत् योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिः इतरैरपि सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा” (भाग.पुरा.११।२०।३१-३३) इति वचनात् न तथाविधज्ञानापेक्षा. नच तथापि श्रौतनिन्दायाः का गतिः? इति प्रष्टव्यं, यतः श्रोतव्यं हि भक्तिरहस्यं भागवतोक्तं “स्वे-स्वे अधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितो विपर्ययस्तु दोषः स्याद् उभयोः एष संग्रहः... क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः” (भाग.पुरा.११।२१।२-१६) इति. एवम् उपदेशोपलम्भेन ज्ञानमार्गे भेदेन उपासनं दोषो भक्तिमार्गे तु भेदेन भगवद्भावनं महद्द्रसाधायकमेव भवति इति विवेकः.

तस्माद् भगवति प्रपन्नैः भक्तैः सह ब्रह्मज्ञानिनां कलहाभावेऽपि अप्रपन्नानां ज्ञानमार्गवादिनां यः कलहो तत्र भगवता श्रीरामेण प्रतिश्रुतं “सकृदेव प्रपन्नाय 'तवास्मि' इति याचते अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि एतद् व्रतं मम” (वाल्मी.रामा.६।१८।३३-३४) इति तेन तथाभक्तास्तु निर्भयाः कृताएवेति. प्रतिष्ठाप्यभगवन्मूर्तेः हृदयं स्पृष्ट्वा यत्र सकृज्जापेऽपि भयात्यन्ताभावो तत्र त्रिवारं भक्तेन जापेतु भेतव्यमिव न किमपि उपलभामहे! तदिदं “ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति आत्मप्रदः प्रियः चापि किमर्थं मोहयिष्यति!” (संन्या.निर्ण.२०) इति निजाचार्यवचनानुरोधात् तदनुगामिभिः वेदितव्यम्. नच परदास्यं सर्वत्र दुःखतयैव

अवधार्यतइति कुतः तत्र सुखमोहः इति वाच्यं, श्रीरामानुजीयनिगमान्तदैशिकैः सुनिराकृतत्वाद् एतादृशः आत्यन्तिकाद्वैतमोहस्य. तथाहि “आविर्भूतस्वरूपा निरवधिकसुखब्रह्मभक्तिस्तु मुक्तिः, सेवात्वाद् दुःखकृत् सा भवति यदि न तद् धर्मिमानेन बाधात्. पाप्मा चास्मिन्नुपाधिः सच न खलु तदा पुण्यपापव्यपायाद् आत्मानो विष्णुशेषा इति च सुखमयी सा स्वरूपानुरूपा” (तत्त्वमु.कला.२।६४) इत्यत्र.

ननु निरवधिकसुखरूपस्य “यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति. भूमैव सुखम्” (छान्दो.उप.७।२३।१) इति श्रुतिप्रतिपादितस्य भूमापरपर्यायस्य

::७.सद्रूपमूर्तौ सच्चिदानन्दरूपभगवज्जागरणभावनार्थकम्::

ततो “जय-जय जहि अजाम्, अजित !, दोषगृभीतगुणां, त्वम् असि यद् आत्मना समवरुद्धसमस्तभगः, अगजगदोकसाम् अखिलशक्त्यवबोधक ते, क्वचिद् अजया आत्मना च चरतो अनुचरेद् निगमः” (भाग.पुरा.१०।८४।१४) इति श्लोकं पठेत्.

पुरुषोत्तमस्य सेवाकर्तुः दुःखदोषसम्भावनाराहित्येऽपि सेवार्थम् अनाविद्यकस्वरूपाविर्भावाभावेन तत्प्रयुक्तजीवभावस्य च अपेक्षितत्वेनापि तस्यच आविद्यकपञ्चपर्वाध्यासमूलकत्वेन तद्धेतुभूतव्यामोहिकायाः मायायाः निवृत्तिप्रार्थनस्य इह पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाविधौ वैपरीत्यमिव प्रतिभातीति “जहि अजाम्, अजित !, दोषगृभीत...” इति वेदस्तुतिपद्यपाठस्य कुतो अत्र विवियोगः उच्यते? इति चेद् अत्र ब्रूमः : स्थावरजंगमानाम् अखिलेन्द्रियाणां शक्त्यवबोधको निखिलाभिन्ननिमित्तोपादानरूपो मूलहेतुः भगवानेव. प्रकृतिस्तु द्वारभूतं करणभावं भजते. तद् उक्तं “प्रपञ्चो भगवत्कार्यः तद्रूपो माययाऽभवत् तच्छक्त्या अविद्यया तु अस्य जीवसंसारः उच्यते... अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः... नापि विवर्तात्मा... किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृत्तिसाध्यः तादृशोऽपि भगवद्रूपः” (त.दी.नि.प्र.१।२३) इति.

नच “यया स्वप्नं भयं शोकं... धृतिः सा पार्थ तामसी” – “यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनम् आत्मनो निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसम् उदाहृतम्”



(भग.गीता.१८।३५, ३९) इति वाक्याद् अन्यादृशी निद्रा जीवात्मनां भगवतस्तु योगनिद्रा किल. तद् योगनिद्रात्यागप्रार्थनस्य इह प्रतिष्ठाकर्मणि कः सन्दर्भः ? इति शङ्क्यं, “योगनिद्रा त्वया लीलयाैव गृहीता नतु जीवइव निद्रया अभिभूतः. भगवन्निद्रा माया प्रकृतिः इति स्वरूपत्रयम् एकमेव... इयमेव स्वशक्तिद्वारा जीवान् व्यामोहयति. तेषामपि निद्रालस्यादिरूपेण व्यामोहिका वर्तते” (सुबो.१०।८४।१४) इति आचार्यवचनबलेन ब्रह्मसदंशरूपा प्रकृतिरपि काचिद् भगवतः सम्मूर्छितावस्था योगनिद्रेव. सच्चिदानन्दरूपस्य च भगवतः आनन्दांशेन लीलाविहरणेच्छातु “स वै नैव रेमे स द्वितीयम् ऐच्छद्” (बृह.उप.१।४।३) इति निरूपिता. भगवतएव “एकोऽहं ‘बहु स्यां प्रजायेय’ (छान्दो.उप.६।२।३)” इति तदनुपातिचिदंशक्तिरूपेण अप्रतिहतसत्संकल्पेनैव च सा प्रकृतिः

:: ८.श्रीकृष्णाकृतौ लोकवेदप्रसिद्धश्रीकृष्णावतारभावनम् ::

ततः “तम् अद्भुतं बालकम् अम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधं, श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्. महार्हवैडूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् उदामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिः विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत” (भाग.पुरा.जन्मप्रक.१०।३।९-१०).

स्वकीयां सम्मूर्छितावस्थां जहाय महदादि-पञ्चमहाभूतान्तान् तिरोहितचिदानन्दांशरूपान् विकारान् प्रसूते. सति चैवं सदंशभूतभगवन्मूर्तौ खलु योगनिद्रेव काचिद् भगवतो अवस्थितेः भावनया भक्तगृहे भगवतो भक्तानुष्ठितसेवाङ्गीकृतिरूपलीलानन्दानुकूलया जागरणभावनया एतत्पद्यपाठः सर्वथा प्रसक्तो भावनीयः च. किञ्च “सर्वलीलाः पुष्टिमध्ये प्रविशन्तीति मे मतिः अतः सृष्टिस्तु निखिलाः कृष्णार्थेति विनिश्चयः. तस्मात् सिद्ध्यन्ति कार्याणि भक्त्यैव आश्रयणाद् हरेः” (त.दी.नि.३।६।९८-९९) इति निरूपणात् पुष्टिमार्गीयभक्तस्य देहगेहधनपरिजनादेः सर्वस्य भगवत्सृष्ट्यन्तर्गतत्वेन कृष्णार्थत्वभावनया पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाविधेः श्रीकृष्णार्थकस्य सर्वस्य श्रीकृष्णे विनियुक्तस्य अङ्गीकृतिलीलायाः आरम्भकतयापि एतत्पद्यपाठोपपत्तिः. “सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः गंगात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना गंगात्वे न निरूप्या स्यात् तद्वद् अत्रापि चैवहि” (सिद्धा.रह.८-९) इति वाक्याद् इहापि ब्रह्मसम्बन्धपूर्वकः स्वसर्वस्वस्य भगवति विनियोगः सर्वदोषापहारकइति तदर्थं सर्वदोषमूलव्यामोहकमायाकार्यस्य अप्रतिबन्धकतासम्पादनार्थमपि एतत्पद्यपाठनस्य आवश्यकत्वम्. तद् उक्तं “ननु

एषा कथं हन्तव्या यतो गुणवती सुषुप्तौ परमानन्दलक्षणं गुणं प्रयच्छति इति चेत् तत्र आह ‘दोषगृभीतगुणाम्’ इति, दोषार्थमेव स्वरूपाज्ञानार्थमेव गृहीताः गुणाः यया” (सुबो.१०।८४।१४) इति. तस्मात् येहि अपरीक्षितगुरवो लोकानुगतपशुरुपान्धुरोः अन्धानुगाः गृहीतब्रह्मसम्बन्धाः मूढाः तेऽपि स्वगृहे श्रीकृष्णसेवौपयिकं सर्वस्वं न यावत् कुर्वन्ति न तावत् तेषां केषाञ्चिदपि दोषाणां निवृत्तिः मन्तव्या.

स्यादेतद् : मथुरायान्तु चतुर्विधव्यूहविशिष्टस्य लोकवेदप्रसिद्धपुरुषोत्तमस्य प्रादुर्भावः. पुष्टिमार्गेतु पुनः लोकावेदातीतस्य पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यता. तत् पुष्टिभक्तिरूपसेवायै प्रतिष्ठाप्यायाः भगवन्मूर्तेः प्रतिष्ठाविधौ तम् अद्भुतं बालकम्...

:: ९.अवतीर्णस्य भगवतः श्रीनन्दब्रजेऽपि लोकवेदातीतप्रेमादिभाव-चतुष्टयात्मकप्राकट्यं तथाविधलीलाः च इति भावनम् ::

“नन्दस्त्वात्मज... शुचिर् अलंकृतः” “नवकुङ्कुमकिञ्जल्कं... चलत्कुचाः” (भाग.पुरा.प्रमा.प्रक.१०।५।१-१०). “तं गोरजश्छुरितकुन्तल... अभ्यगमन् समेताः”, “बर्हापीडं नटवरवपुः...प्राविशद् गीतकीर्तिः” (भाग.पुरा.प्रमे.प्रक.१०।१२।४२, १०।१८।५). “श्यामं हिरण्यपरिधिं...मुखाब्जहासम्” (भाग.पुरा.साध.प्रक.१०।२०।२२). “तासाम् आविरभूच् छोरिः...साक्षान् मन्मथः”, “उत्सवं श्रमरुचापि...देवकीजठरभूरुद्रराजः” (भाग.पुरा.फलप्रक.१०।३२।२३) इत्यादिषु यत् स्वरूपं निरूपितं तत् स्वरूपमेव एतानि पद्यानि पठन् ध्यायेत्. चतुर्भुजं शंखगदाद्युदायुधं... वसुदेव ऐक्षद् इति वसुदेवदृष्टस्य स्वरूपस्य भावनम् असमञ्जसमिव आभाति, इति. अहो पुष्टिभावप्रकर्षः ते प्रभुचरणोदिते अन्यथाभावं प्रकटयतः ! यस्माद् यासां खलु गोपिकानां भावरूपो भगवान् लोकवेदातीतया त्वदभिमतः ताएव गोपिकास्तु पुनः तमेव लोकवेदातीतं भगवन्तं -

“न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनाम् अन्तरात्मदृक् विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले.”

“विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते.”

“उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनां... दित्सयैति सुहदाशिष एष देवकीजठरभूरुद्रराजः.”



इति लोकवेदप्रसिद्धतयापि विभायन्ति. तस्मात् तासां भावरूपात्मके भगवति उभयोः रूपयोः समाहारदर्शनात् तथाविधेव भगवान् पुष्टिमार्गीयैः मृग्यः “कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः साधनं तद्भावो भावनया सिद्धो साधनं नान्यद् इष्यते” (संन्या.निर्ण.८) इति अस्मदाचार्यादिष्टत्वादपि.

इह प्रभुचरणैः “इति आदिषु यत् स्वरूपं निरूपितं तत् स्वरूपमेव एतानि पद्यानि पठन् ध्यायेद्” इति उक्तेः परम्परातो भगवज्जन्मोत्सववेलायाम्

एतदनुवादरूपं श्रीसूरदासकृतं कीर्तनं “व्रज भयो महरिके पूत” इति यस्माच्च गीयते तस्मादपि सर्वाण्यपि तन्मूलरूपाणि पद्यानि अत्र संगृह्यन्ते अन्यान्यपि श्रीमद्हरिरायमहानुभावोपदर्शितानि प्रसक्तानुप्रसक्तानि च. नच इह व्यर्थविस्तारः आशंकनीयो, भगवज्जन्मोत्सवभावनायां यस्य व्यर्थविस्तारबुद्धिः तेन नूनं नैव भावनीयं यस्यतु एवं भावनया भाववृद्धिः तदर्थमेव एतत्संकलनम्.

“नन्दस्तु आत्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः, आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिर् अलङ्कृतः वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्म आत्मजस्य वै कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा. धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलंकृते, तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशातकुम्भाम्बरावृतान्. कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस् तपसा इज्यया, शुद्धयन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याणि आत्मविद्यया. सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः, गायकाश्च जगुर् नेदुर् भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः. व्रजः संमृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः, चित्रध्वजपताकास्रक् चैलपल्लवतोरणैः. गावो वृषा वत्सतरा हरिद्रातैलरूषिताः, विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः. महार्हवस्त्राभारणकञ्चुकोष्णिषभूषिताः गोपाः समाययुः राजन् नानोपायनपाणयः. गोप्यश्च आकर्ण्य मुदिताः यशोदायाः सुतोद्भवम्, आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः. नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः बलिभिस् त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्च ललत्कुचाः. गोप्यः समृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्यश्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः नन्दालयं सवलया व्रजतीर् विरेजुः व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः. ता आशिषं प्रयुञ्जानाः ‘चिरं पाहि’ इति

बालके, हरिद्राचूर्णतैलादभिः सिञ्चत्यो अजनम् उज्जगुः. अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे कृष्णे विश्वेश्वरे अनन्ते नन्दस्य व्रजम् आगते. गोपाः परस्परं हृष्टाः दधिक्षीरघृताम्बुभिः, आसीञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः. नन्दो महामनास् तेभ्यः वासोऽलङ्कारगोधनं सूतमागधवन्दिभ्यो ये अन्ये विद्योपजीविनः. तैस्तैः कामैर् अदीनात्मा यथोचितम् अपूजयत्, विष्णोर् आराधनार्थाय स्वपुत्रस्य उदयाय च. रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता, व्यरचद् दिव्यवासस्रक्कण्ठाभारणभूषिता. तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्, हरेर् निवासात्मगुणैः रमाक्रीडम् अभून् नृप !”

(भाग.पुरा.१०।५।११-१८)

इह श्रीमद्हरिरायचरणैः श्रीपुरुषोत्तमचरणैः च उपदिष्टं परम्परागततयोल्लिखितं च प्रमाणप्रकरणीयगोपीजनभावात्मकप्रभोः रक्षामिषेण मूर्तौ यत् स्थापनम् तदपि अवश्यंग्राह्यत्वेन संगृह्यते :

“अव्याद् अजोऽङ्गिम् अणिमांस्तव जान्वथोरू यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः, हत् केशवस् त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं विष्णुर् भुजं मुखम् उरुक्रम ईश्वरः कम्. चक्रग्रतः सहगदो हरिर् अस्तु पश्चात् त्वत्पाश्वर्योः धनुरसी मधुहाजनश्च, कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्रस् ताक्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात्. इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोऽवतु श्वेतद्वीपपतिश् चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु. पृथिवीर्भस्तु ते बुद्धिम् आत्मानं भगवान् परः, क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः. व्रजन्तम् अव्याद् वैकुण्ठः आसीनं त्वां श्रियःपतिः, भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयङ्करः. डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः, भूतेप्रेतपिशाचाश्च यक्षोरक्षविनायकाः. कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः, उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः. स्वप्नद्रुष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर् नामग्रहणभीरवः.”

(भाग.पुरा.१०।५।२२-२९)

ननु पात्रस्थानीयो हि लोकवेदप्रथितः पुरुषोत्तमः तत्स्थिरसस्थानीयस्तु लोकवेदातीतः पुरुषोत्तमः. सति चैवं उल्लिखितपद्ये रक्ष्यस्तु रसरूपो भगवान् पुरुषोत्तमो लोकवेदातीतो रक्षकस्तु पुनः लोकवेदप्रसिद्धः पात्रस्थानीयः पात्रे हि रसः संरक्ष्यतइति. पुष्टिभक्तौतु रसरूपस्यैव भगवतो भजनीयता न पात्ररूपस्य इति चेत् न, कथन्तु केन वा प्रमाणेन

अवधारितं भवता भगवान् रसरूपः इति ? नच श्रीमद्भिरायमहाप्रभोः वचनप्रामाण्येन इति वाच्यं, तैस्तु श्रुत्यपरपर्यायवेदप्रसिद्धतयैव रसस्य कृष्णात्मकताबोधनेन वेदप्रथिते पर्यवसानात्. नच “‘रसो वै सः’ इति श्रुत्या स रसात्मतयोदितः तत्र कृष्णे मतिः कार्या ब्रह्मवादेन सर्वथा...नच संयोगात्मा स्वयं जातो वसुदेवगृहे ततः नन्दगेहे समागत्य भावात्मव्रजसंश्रयं गोपिकाभावरूपं स्वम् आत्मानं स्वस्थितं व्यधात् स्वस्थितेन स्वरूपेण सततं रमते व्रजे” (स्वमा.मू.निरू.१,१७-१८) इति निरूपणे रसात्मकस्य अन्तःस्थितिरेव निरूपिता इति वाच्यं, तत्र प्रष्टव्यो भवति भवान् प्रतिष्ठाप्यायाः भगवन्मूर्तेः अन्तःप्रतिष्ठा वा बहिःप्रतिष्ठा वा चिकीर्षिता ? तत्र नाद्या, सेवायाः “‘साच फलरूपा साधनरूपा च आस्ते. तत्र मानसी सा परा फलरूपा” (सि.मु.प्र.१) इति द्वित्वोक्तिपूर्विकायाः फलरूपायाः तस्याः मानसीत्वोक्तेः तत्साधनभूतायै तनुवित्तजरूपायै सेव्यायाः भगवन्मूर्तेः अन्तःप्रतिष्ठायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. अथ बहिःप्रतिष्ठायाः चिकीर्षितत्वे तदन्तःस्थितभावात्मकस्वरूपस्येव तत्पात्रस्थानीयस्य भगवन्मूर्तेरपि भजनीयत्वाविशेषाद्, आलम्बनविभावाभावे स्थायिभावस्य स्वरूपासिद्धेः च. स्थायिभावस्य भगवत्प्रीतिरूपत्वेन सेव्यप्रभुधर्मरूपत्वेन स्वधर्म्यवलम्बित्वात् च. तद् उक्तं “‘प्रीतिस्तु भगवद्धर्म भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यः तं खण्डशो दत्तवान् सुखार्थम्. अतो यत्रैव प्रीयते तत् सुखं भवति” (सुबो.२।२।७) इति. तस्माद् भावरूपस्य भगवत्प्रेम्णो भगवद्धर्मरूपत्वेन भगवदात्मकत्वेऽपि तस्य अनुग्रहापरपर्यायभगवत्कृतप्रदानेनैव जीवात्मनि प्रतिष्ठा तेन च भावेन सेवनार्थं भगवन्मूर्तौ भावप्रतिष्ठायां धर्मस्य धर्म्यविनाभावितया तत्र धर्मिरूपभगवदाविर्भावः इति निपुणैः विभावनीयम्. सोऽयं हि स्थायिभावात्मिकायाः भक्तेः अनुभावएव अवगन्तव्यो यः स्वालम्बनविभावानुरागः. अन्यथा भक्तित्वहानिः इति अस्मदाचार्यचरणाः प्रतिपादयन्ति “‘भक्तिः चेत् स्वानुभावं न प्रकाशयते यदा धर्मत्वम् आपन्ना न भक्तित्वं प्रपद्यते” (त.दी.नि.३।९।२७-२८) इति. पुष्टिमार्गीयधर्मार्थकाममोक्षनिरूपणपरायां चतुःश्लोक्यां यथाक्रमं प्रमाणप्रमेयसाधनफलप्रतिपादनस्यापि वक्तुं शक्यत्वेन च सर्वभावपूर्विकायाः सेवायाः यथा पुष्टिमार्गीयधर्मरूपता तथैव पुष्टिमार्गे भजनीयस्य भगवतः स्वरूपबोधार्थं सेवायाः प्रेमरूपप्रमाणरूपतापीति प्रेमासक्तिव्यसनफलद्योतकमपि प्रमाणादिफलान्तप्रकरणयीयं भगवत्प्राकट्यं निरूपितं किल “‘नन्दस्त्वात्मज... शुचिर् अलंकृतः... देवकीजठरभूरुडुराजः” इत्यादिषु यत् स्वरूपं निरूपितं तत्स्वरूपमेव एतानि पद्यानि पठन् ध्यायेद् इति. अत्र आद्यन्तग्रहणाद् मध्यपातिनोः प्रमेयसाधनप्रकरणगतपद्ययोः कासुचन मातृकासु अनुक्तयोरपि समुच्चयस्तु तत्रापि ऊह्यएव.

तत्र प्रमाणप्रकरणे अध्यायसप्तके भगवच्चरिते प्रमाणान्वेषणे तु भक्तिहेतुकं चेद् अज्ञानं वा अन्यथाज्ञानं वा उभयमपि भगवत्स्वरूपबोधौपयिकं प्रमाणं भवितुम् अर्हति इति श्रीमदाचार्यचरणैः “‘अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुकम्” (त.दी.नि.३।१०।४३) इति निरूपणात् स्वसेव्यस्वरूपे अनन्यप्रेमहेतुकं केषाञ्चिद् ब्रह्मधर्माणां वा परमात्मधर्माणां वा भगवद्धर्माणां अवतारकालिकश्रीकृष्णधर्माणामपि अज्ञानेन अन्यथाज्ञानेन वा सेवानिर्वाहेऽपि न काचित् क्षतिः. इदम् अत्र अवधेयं : भगवत्स्वरूपस्य भगवल्लीलायाः वा अज्ञानान्यथाज्ञानाभ्यां जाता भक्तिः प्रमाणबलविचारेण न प्रशस्तेति नोपदेश्या भवति नापिच अभिनन्दनीया. प्रमेयबलविचारेतु अस्मदादिभिः न काचिद् विचारणीयतापि. तत्र युक्तायुक्तविचारो भगवदधिकारकएव. तथापि भक्तिहेतुकन्तु भगवत्स्वरूपस्य भगवल्लीलायाः वा अज्ञानं वा अन्यथाज्ञानं वा भवतु उभेऽपि भगवत्सेवायां प्रमाणे भवितुम् अर्हतएव. तस्मादेव श्रीमत्प्रभुचरणप्रदत्तस्य किशोरावस्थभगवत्स्वरूपस्य सेविकायाः बालकृष्णरूपाज्ञानं सर्वथा (द्रष्ट.२५२वार्ता.२२३) निर्दुष्टमेव मतं परन्तु अन्यस्याः वृद्धायाः बाल्यभावनया सेव्याय मार्जारीभीताय भगवते पूतनाद्यसुरघातस्मारणं प्रमाप्रतिपन्नमपि दोषरूपमेव तत्सेव्येन ज्ञापितं (द्रष्ट.२५२वार्ता.८३). तस्मात् सेवायां लीलौपयिके अज्ञानान्यथाज्ञाने प्रमाणरूपे भवतः. लीलाविपरीतन्तु भगवत्स्वरूपयथार्थज्ञानमपि अप्रमाणं क्वचिद् भवितुम् अर्हतीति प्रमाणप्रकरणीय भगवत्स्वरूपप्राकट्यं स्वसेव्यायां भगवन्मूर्तौ ध्रुवं विभावनीयम्.

ततो भावस्य आसक्तिव्यसनफलानुभूतिरूपावस्थाभिवृद्ध्याकांक्षया प्रमेय-साधन-फल-प्रकरणत्रयीगतं पद्योक्तलीलाभावनम् : “‘तं गोरजश्छुरितकुन्तल... अभ्यगमन् समेताः”, “‘बर्हापीडं नटवरवपुः ... प्रविशद् गीतकीर्तिः”, “‘श्यामं

:: १०. एवं विविधभावनाभिः सेव्यायाः भगवन्मूर्तेः पुरुषोत्तमात्मकतासम्पत्तौ अग्रिमसेवाप्रकारस्य निरूपणम् ::

ततः सुवर्णमये वेणुवेत्रे पट्टमयनिदाने पीताम्बरे च समर्पयेत्. ततः पुरुषोत्तमात्मकतायां जातायां स्वरूपे “‘भगवान् श्रीगोकुलेशः श्रीकृष्णो अयम्” इति बुद्धि कर्तव्या न स्वरूपादिबुद्धिः.

हिरण्यपरिधि... मुखाब्जहासम्”, “‘तासाम् आविरूभूत् शौरिः... साक्षाद्

मन्मथमन्मथः”, “उत्सवं श्रमरुचापि... देवकीजठरभूरुद्रराजः” इति पद्यान्यपि भावनीयानि. एवं कृते सति भगवन्मूर्तौ हि जीवात्मनः प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलनिरोधाय तथा-तथा भगवत्प्राकट्यविभावनं सिद्ध्यति. इह प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूपतानुसन्धानम् अग्रेतु “तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो... आसनम् आत्मबन्धवे” “रसो वै सः... आनन्दी भवति”, “तत्र उपविष्टो भगवान्... वपुर् दधत्” इति पद्यानि तु भगवन्मूर्तेः पट्टप्रतिष्ठाकारकतया भावनीयानि. भाषायां ‘पाटोत्सव’पदवाच्यस्य उत्सवस्य निमित्तरूपं हि तत् कर्म. नच एतावत्येव पद्यानि सन्तु यतो अनुपदिष्टस्य स्वोत्प्रेक्षितस्य वा “अव्याद् अजो अंग्रिम्...” इति पद्यस्य पठने सेव्यायां भगवन्मूर्तौ अन्यथाभावदोषापत्तेः सम्भावना, “मनुष्या वा ऋषिषु उत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन् ‘को नः ऋषिः भविष्यति?’ इति. तेभ्यः एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहम् अभ्यूहम्. तस्माद् यदेव किञ्च अनूचानो अभ्यूहति आर्षं तद् भवति” ( निरु.निघ.१३।१।१२ ) इति अभ्यूहे दोषनिर्धारणाभावे न अभ्यूहिते दोषः कश्चिद्.

एवं प्रमेयसाधनप्रकरणीयभगवत्प्राकट्यविभावनयां भगवन्मूर्तेः निजसेवके भक्तेः आसक्तिव्यसनावस्थोदीपकत्वं द्योतितम्. तद् उक्तं “अतः प्रमेयसम्पत्त्या कृष्णासक्तिः हि वर्ण्यते. सर्वतस्त्वधिकः स्नेहः पूर्वत्र विनिरूपितः. आसक्तिस्तु द्वितीये हि तृतीये व्यसनं मतं, फलप्राप्तिः चतुर्थे हि सिद्धो रोधः चतुर्विधः” ( त.दी.नि.३।१०।५९-६० ) इति. अथ एवं प्रमाणप्रमेयसाधनफलनिरोधसाधकभगवत्स्वरूपविभावनया स्वहृदि प्रेमासक्तिव्यसनफलानुभूतिभावनया च भावपुष्टभगवत्स्वरूपे साक्षात् नैजं भगवत्प्राकट्यम् इति भावयितुम् उपदिशन्ति ततः सुवर्णमये...इत्यारभ्य न स्वरूपादिबुद्धिः इत्याद्यन्तम्.

इत्यन्तं यावत्. अधुना स्वमार्गे सेव्ये स्वरूपे मूर्तिबुद्धिः निषिध्यते स्वरूपबुद्धिकरणन्तु उपदिश्यते. तस्मात् किंहेतुको अयं स्वरूपबुद्धिनिषेधः? अत्र उच्यते : ‘मूर्तिः’ नाम आकारः. सतु “हरिमूर्तिः सदा ध्येया” (निरो.लक्ष.१७) इति कण्ठतोऽपि आचार्यचरणैः अभ्युपगतत्वाद् अनिराकरणीयएव. “साकारव्यापकत्वात् च” (त.दी.नि.२।२२९) इतिच साकारब्रह्मवादानुसरणसिद्धोऽपि. अतो भगवदाकारस्यैव भजनं नतु साक्षाद् भगवतः इति बुद्धेः निराकरणायैव सेव्यस्य प्रभोः मूर्तित्वेन उल्लेखो निषिद्ध्यते. तथैव

स्वस्य रूपम् स्वरूपं नाम सेव्यस्य भगवतो रूपमेव सेव्यते नतु साक्षाद् भगवान् इति बुद्धिनिराकरणाय प्रभुचरणापि इह एवं समुपदिशन्ति. नच एतावता “स्वयं च तद् रूपं च” इति बुद्ध्या भगवति स्वरूपबुद्धिनिषेधविवक्षा काचित्. तस्मादेव “तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्या सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्” (त.दी.नि.२।२२८) इति तदवस्थितिरेव तद्रूपसत्तावाचकेन अप्यर्थकेन ‘च’कारेण ब्रह्मदृष्ट्या देशकालस्वरूपतो अपरिच्छिन्नस्यैव परमतत्त्वस्य भगवच्छ्रीकृष्णदृष्ट्या च भक्तानुग्रहशीलस्य साकारस्य तस्य या भजनीया आकृतिः वा मूर्तिः वा रूपं वापि तदखिलं भक्तानुष्ठितसेवाङ्गीकरणाय भगवद्विग्रहे विद्यतएवेति बुद्धौ न कश्चन दोषसम्भावनालेशोऽपि. तदिदम् उक्तं

“तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति ‘तद्रूपम्’ इति, ‘वस्तुविचारेण सर्वस्यापि भगवद्रूपत्वाद्, ‘विशेषस्तु अयम् ‘एनम् उद्धरिष्यामि’ इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो, ‘भक्तिमार्गानुसारेण आह ‘तत्र च स्थितम्’ इति मूर्तौ स्थितम्. परं यत्र हस्तः तत्र हस्तः तत्तदवयवेषु तत्तदवयवाः. तत्र हेतुः व्यापकं साकारं ब्रह्म इति... मूर्तौ विशेषम् आह ‘श्रीकृष्णम्’ इति, मूर्त्यन्तरे द्व्यन्तरितत्वम्.”

(त.दी.नि.प्र.२।२२९)

एवं ‘वस्तुविचारेण ‘विशेषविचारेण ‘भक्तिविचारेण-इति त्रेधा खलु मूर्तेः भगवत्त्वम् उपपादितम्. तदिह वस्तुविचारस्तु नामरूपकर्मणां ब्रह्मतादात्म्यबोधकैः

::११.फलप्रकरणीयभगवत्प्राकट्यमनु तस्य भावात्मके पट्टे प्रतिष्ठोत्सवभावानुसन्धानेन प्रादुर्भूते रसात्मके स्वरूपे परमफलरूपतया प्रतिष्ठायाः अनुसन्धानम्::

ततः “तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः, स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैर् अचीकलृपन् आसनम् आत्मबन्धवे” (भाग.पुरा.१०।२९।१३) इति श्लोकं पठन् सिंहासनं स्पृष्ट्वा “रसो वै सः. रसश्ङ्गुश्चअह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति” (तैत्ति.उप.२।६।१) इति ऋचं पञ्चाक्षरं च “तत्र उपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः, चकास गोपीपरिषद्गतो अर्चितस् त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर् दधत्” (भाग.पुरा.१०।२९।१४) इति श्लोकं च पठन् ‘श्रीकृष्ण’पदार्थनिरूप्यो अयमेव इति ध्यायन् श्रीकृष्णं सिंहासने स्थापयेत्.

पूर्वोदाहृतैः “सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो... यद् आस्ते”, “ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि... बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्” (चित्युप.१२।७, बृह.उप.१।६।१-३) इत्यादिश्रुतिवचनैः सिद्धः. विशेषविचारस्तु श्रीमद्भागवते “नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः भगवतो, नृप, अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः, कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते, नच एवं विस्मयो कार्यः भवता भगवति अजे योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत् एतद् विमुच्यते” (भाग.पुरा.१०।२६।१४-१६) इति निरूपितः. तथैव भक्तिविचारोऽपि “तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति”, “ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्”, “त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां यद्यदधिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय” (मुद्र.उप.३।३, भग.गीता.४।११, भाग.पुरा.३।१।११) इति श्रुतिगीताभागवतादिषु बहुधा उदितएव. यत्तु मूर्तौ विशेषं निरूपितं तद्व्याख्यानन्तु इह टिप्पण्यां श्रीकल्याणरायैः “अन्यमूर्तिभजने श्रीकृष्णस्य मूलभूतत्वात् तदवतारस्य मूर्तौ स्थितत्वाद् भजने श्रीकृष्णस्य द्वाभ्यां व्यवहितत्वम्” (तत्रैव) इति कृतमेव इति अलम्. ततः इत्यारभ्य ‘श्रीकृष्ण’पदार्थनिरूप्यो अयमेव इति ध्यायन् श्रीकृष्णं सिंहासने समुपवेशयेद् इत्यन्तम्. ननु अत्र कः तावत् ‘श्रीकृष्ण’पदार्थः?

किं “सएव परमकाष्ठापन्नः कदाचिद् जगदुद्धारार्थम् अखण्डः पूर्णएव प्रादुर्भूतः ‘कृष्णः’ इति उच्यते. ननु पूर्वमपि साधनानि सिद्धान्येव सर्वत्र. तत्र अनधिकारेण साधनाभावे भगवानपि अवतीर्य किं करिष्यति इति आशंक्य आह ‘अद्भुतकर्मणे’ इति. अद्भुतकर्मत्वम्... असाधनं साधनं करोति इत्यादि” (त.दी.नि.प्र.१।११) इत्येवं यो निरूपितः साधननिरपेक्षतया जगदुद्धारकत्वरूपः सएव ‘कृष्ण’पदार्थः?

उत “यथा नटः स्त्रीरूपं प्रकटयन् बहिर्मुखैः न ज्ञायते ‘पुरुषः’ इति तथा नरभावं प्रकटयन् आविर्भूतो भगवान् भगवत्त्वेन न ज्ञायते... ननु आविर्भावान्यथानुपपत्त्या सर्वेषां ज्ञापनार्थमेव आविर्भूतइति कथम् उच्यते ‘न ज्ञायते’ इति. नहि भगवान् वञ्चनार्थम् आविर्भूतो रसजननाय वा... भगवान् भक्तियोगार्थमेव आविर्भूतो... यद्यपि सर्वे नृत्यं पश्यन्ति तथापि रसिकानामेव रसोत्पत्तिः. नहि नपुंसकानां स्त्रीणां स्त्रीरूपेण नृत्ये क्रियमाणे शृंगाररसः उत्पद्यते.” (सुबो.१।८।१८-१९) इति

भक्तियोगप्रकटनैकप्रयोजनेन आत्मप्राकट्यकारिरूपो वा किं ‘कृष्ण’पदार्थः?

अथवा “स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति ‘कृष्ण’पदार्थः क्वचिद् विवृतः” (सुबो.१०।१८।५) इति सुबोधिण्यां भगवान् स्त्रीभावापरपर्यायभोग्यभावोपेतानां भक्तानां भोग्यो भवति इति बोधितम्. तथाहि “यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा. सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता. यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा सापि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव... सापि सच्चिद्रूपा स्वार्थम्. तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपम्... साहि अक्षरस्य आनन्दरूपा... यदा भगवान् भोगार्थं जगत् करोति तदा सर्वं लक्ष्मीरूपमेव करोति इति बोधितम्. अनेन अवतारेषु भोग्याः लक्ष्मीरूपाएवेति स्वरूपतो आवेशतो वा” (सुबो.२।१।१३-१४) इति. एतेन “भक्तानां दुःखनाशाय कृष्णावतरणं मतं, ये भक्ताः शास्त्ररहिताः स्त्रीशूद्रद्विजबन्धवः तेषाम् उद्धारकः कृष्णः स्त्रीणाम् अत्र विशेषतः” इत्येवमादिवचनैः भगवति विद्यमानस्य गूढभोग्यभावस्य, भक्तेषु च विद्यमानस्य गूढभोक्तृभावस्य उद्भावको धर्मविशेषएव किं ‘कृष्ण’पदार्थो वा?

आहोस्विद् यथाहि भागवतार्थनिबन्धमंगलाचरणे “श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा सर्वभक्तसमुद्गारे विस्फुरन्तं परं नुमः. ‘कृष्ण’शब्देन परं वस्तु उच्यते तदेव कदाचित् ‘परमसौन्दर्यं स्वगतं प्रकटीकरिष्यामि’ इति साकारं प्रादुर्भूतं सत् श्रीकृष्णः. फलरूपताम् आह ‘परमानन्दम्’ इति. तस्य साधनं श्रवणमिति तद्विषयरूपताम् आह ‘दशलीलायुतम्’ इति. अवतारप्रयोजनम् आह ‘सर्वभक्तसमुद्गारे’ इति...” (त.दी.नि.३।१।१) इति न केवलं निरोधलीलान्तःपातिषु भक्तेषु प्रत्युत सर्वेष्वपि सर्गविसर्गादिलीलान्तःपातिष्वपि भक्तेषु ताभि-ताभिः लीलाभिः स्वगतसौन्दर्याविष्कारको भगवानिति सएव किं ‘श्रीकृष्ण’पदार्थः?

ननु किम् अत्र युक्तं? उच्यते यदेव श्रीमदाचार्यचरणानां प्रतिपिपादयिषितम् इति. तर्हि किं तैः प्रतिपादितम् इति अन्वेष्टव्यम् तथाहि

१. “प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः परस्परं विरुद्धाः ते नैकशेषं भजन्ति हि. उभयोः वैदिकत्वेन कः स्याद् अत्र नियामकः, विचारकानां बुद्धिस्तु सोपजीव्याः श्रुतेः सदा... यथा सर्वाविरोधः स्यात् तथैव अत्र विचारणं, सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते.”

२. “भक्तानाम् अनुग्रहार्थमेव भक्तसमानरूपं देहम् आस्थितो, विजातीये तेषां विश्वासो न भवेदिति. ततो यथा मनुष्यानुग्रहाय मानुषो देहः प्रदर्शितः एवं गोपिकानामपि अनुग्रहाय स्वानन्दं गोकुले दातुं तादृशीः क्रीडाः भजते. तत्तद्धर्मप्रवेशव्यतिरेकेण तस्य-तस्य दोषस्य अनिवृत्तत्वात्.”

३. “प्रमेयेन निरोधो अत्र कर्तव्यो हरिणा भृशं, लोकाश्च दशधा प्रोक्ताः ततो दशविधो हरिः. यस्य भावो यथा लोके तस्य अनुसरणे कृते निरोधो जायते सम्यग् अन्यथा बन्धनं भवेद्.”

(सुबो.२।१।३२, १०।३०।३७, १०।४०।१७).

तस्माद् यथोक्तनिखिलरूपः श्रीकृष्णपदार्थो अवगन्तव्यो न तत्र विरोधः कश्चन

ननु “रसो वै सः” ह “चकास गोपीपरिषद्गतो अर्चितः” इति वाक्यद्वयानुरोधात्, “शृंगारएव सर्वे रसाः इति नाट्यसिद्धान्तः. अन्यस्य रसत्वमेव न मन्यन्ते... अन्यथा रसिकानां रुचिः न उत्पद्येत” (सुबो.१०।१८।१२) इति वाक्यान्तरानुरोधात् च भजनीया भगवन्मूर्तिः शृंगारसालम्बनतयैव विभावनीया नहि कोऽपि लाभो रसिकानां भक्तानां भगवतो विरुद्धधर्माश्रयताशपथभियां स्वानभिलषितस्वरूपभावनया इति चेद् न, चतुःश्लोक्यां “सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः” (च.श्लो.१) इति उपदेशविरोधप्रसक्तेः. नच \*अत्रापि शृंगारसात्मकसर्वात्मभावएव उपदेश्यः. सच गोपीभिः गीतो “यत् पत्यपत्यसुहृदाम् अनुवृत्तिः अंग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वया उक्तम् अस्तु एवम् एतदुपदेशपदे त्वयि ईशे प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुः आत्मा... कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिः आर्तिदैः किम्” (भाग.पुरा.१०।२६।३२-३३)\*इति वाच्यं, तथा सति वात्सल्यादिभावनाभरितायां प्रेखान्दोलनादिसेवायां रसाभासदोषप्रसक्तेः. नच\*वात्सल्यविभावनायामपि “इयदवधि परम् एतदाशया समभवद् जीवितं तावकीनां, तोकता वपुषि तव राजते दृशितु मदमानिनीमानहरणम्” (पर्यकार्या.२) इति भावनोपलब्धेः शृंगारसरूपता शक्यैव\* इति वाच्यं, येषाम् एतादृशो अधिकारः ते खलु एतादृशं भावं विदधतु नाम नच एतावता सर्वैः तस्य अनुसरणं कर्तुं शक्यं वा न्याय्यं वेति. अन्यथा “प्रार्थये रसिकाः स्वैरं पश्यन्तु

इदम् अहर्निशम् एतद्रसानभिज्ञस्तु मा द्राक्षीदपि वैष्णवः” (शृंगा.र.मण्ड.) इति न वदेयुः प्रभुचरणाः. नापिच शृंगाररसएव सर्वे रसाः अन्तर्भवन्ति इति युक्तम्. यस्माद् “रसो वै सः” इति श्रुतिरपि नहि रसस्य ब्रह्मतां प्रतिपादयति किमुत ब्रह्मणो रसरूपतामेव. अन्यथा रसे लौकिकालौकिकविभागएव न उपपद्येत. अथ ब्रह्मणः केवलरसात्मकत्वे तु रसनिष्पादकानां आलम्बनोद्दीपनादिभावानां यदि अब्रह्मत्वं तदा ब्रह्माद्वैतहानिः. ब्रह्मत्वाभ्युपगमे तु ब्रह्मणो रसरूपतावद् तदव्यतिरिक्तमपि रूपं सिद्ध्यत्येवेति ब्रह्मशास्त्रदृष्ट्या “परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति” (मुण्ड.उप.३।२।७) इति श्रुतेः ब्रह्मभावेऽपि तथा. “त्वयि ते इमे ततो विविधनामगुणैः परमे सरितइव अर्णवे मधुनि लिल्युः अशेषरसाः” (भाग.पुरा.१०।८४।३१) इति न्यायेन ब्रह्मणितु न केवलं स्थायिभावात्मकानां विविधरसानां किमुत आलम्बनोद्दीपनानुभावसञ्चारिभावादीनामपि, उक्तानाम् अनुक्तानां वाचां च अगोचराणामपि, सर्वेषाम् अन्तर्भावात्. तस्मात् प्रथमस्तु ब्रह्मभावनैव भगवन्मूर्तौ कार्या स्वस्मिन् च भगवत्सेवाकर्तर्यपि तथा.

तदिदं भगवतापि उक्तं “ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिः” (सिद्धा.रह.२) इति. तदनु सच्चिदानन्दरूपात् परमात्मनो अंशिनः चिदंशभूतस्य स्वस्य व्युच्चरणेन तापक्लेशानन्दतिरोभावानुसन्धानेन भजनीये भगवद्विग्रहे परमात्मभावनापि कर्तव्या. तदनु “भगवते कृष्णाय” इति आत्मात्मीयसकलसमर्पणसम्प्रदानाभूते भगवद्विग्रहे भगवद्भावना कृष्णभावना चापि कर्तव्या. तदनु समर्पणसार्थकतासम्पादिकायै सेवायै “दासोऽहम्” इति मूर्तौ स्वामिभावनावत् स्वस्मिन् दास्यभावनापि कर्तव्या. तदनु “तवास्मि” इति पदाभ्याम् अर्थाक्षिप्ता सख्यभावनापि कर्तव्या. तदनन्तरं तथारब्धायां तत्सेवायां ब्रजस्थानां वात्सल्यशृंगारादिभावाः स्वहृदि आवर्तिताभिः तादृशभावनाभिः “सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः” इति शक्यानुसरणाः भवन्ति. अन्यथा केवलशृंगारसात्मकतानुसन्धाने तु शृंगाराभासतैव वज्रलेपायिता भवेत्. “नातः परतरो मन्त्रः नातः परतरः स्तवः नातः परतरा विद्या तीर्थ नातः परात् परम्” (निरो.लक्ष.२०) इति भक्तेः निरोधरूपतासिद्धयै “यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानान्तु यदुःखं तदुःखं स्याद् मम क्वचिद्. गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां ब्रजवासिनां यत् सुखं समभूत् तन् मे भगवान् किं विधास्यति !” (निरो.लक्ष.१-२) इति सेवायाः अनवसरे च अवसरे च भावनीययोः भक्तिरससञ्चारिभाररूपयोः सुखदुःखयोः शृंगारैकरसपर्यवसानं न केनापि वक्तुं



शक्यम्.

गम्भीरोऽयं खलु विषयो न शास्त्रैकगम्यो नापिच स्वैरभावैकगम्यो वा. यस्माद् भक्तज्ञानिद्वेष्टमूढादिजीवभावानुसारित्वं भगवतः शास्त्रप्रमाणकमेव. तथैव शास्त्रप्रमापितेष्वपि भगवतो हि आराध्यरूपेषु कतमस्य रूपस्य स्वकीयभावतुष्टिकत्वं यत् तत्तु निजहृदयभावैकगम्यम्. तदिदम् उक्तं भगवता भाष्यकृता “‘रसो वै सः’ इति श्रुत्या ‘सर्वरसः’ इति श्रुत्या च सर्वरसात्मकत्वं ब्रह्मणो निर्णीतम्. तथाच यस्य रसस्य ये विभावानुभावादिरूपाः तैः स रसः सम्पद्यते. आतानवितानात्मकतन्तुभिः पटइव. अतः तत्तादात्म्यं रसस्येति सर्वाभेदो निष्प्रत्यूहः” (ब्र.सू.भा.३।३।१०) इति. ननु एवं सति सर्वाभेदाभ्युपगमेतु भक्तिमार्गे “अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततो अन्यत्र विवर्जयेद्” (वि.धै.आ.१४) इति न उपदेष्टव्यम्! इति चेद् न, सर्वस्यास्य विषयस्य बोधसौकर्याय कानिचिद् वचनानि यथापेक्षितानुक्रमेण भाष्याद् इह उदाहरामः-

“एकरसत्वं यथा श्रुतिबलाद् निर्णीयते तथा विरुद्धधर्माश्रयत्वमपि ततएव तथा इति अर्थः. तेन वस्त्वेव तत् तादृग् मन्तव्यम्” (ब्र.सू.भा.३।३।१६).

“उपासनानां ब्रह्मविज्ञानफलकत्वस्य, तस्यच एकजातीयत्वात् घटवत् क लृ ष टा श ष स ा ध न स ा ण य त्वा द् . . . त स्मा त् स्वस्वशाखोक्तप्रकारिकोपासनायामेव सर्वेषाम् अधिकारात् तथैव ब्रह्मविज्ञानं भवति... ब्रह्मैक्यात् तद्विज्ञानं ब्रह्मविज्ञानमेव. नहि रूपरसगन्धादिमत्यां भुवि पुरुषभेदेन एकस्यैव वा एकप्रकारकं वा यद् भूज्ञानं न तद् भूज्ञानम्. एतेन अनन्तधर्मवत्त्वं ब्रह्मणि ज्ञापितम्” (ब्र.सू.भा.३।३।३).

“एवं सति यादृशो अधिकारिणो यादृग् वेद्यं रूपं तादृशः तस्य तादृक् तस्मै निरूपयति... भक्तिप्रकरणे तु भक्तेः बहुविधत्वाद् यादृग्भक्तानां यादृक् तदनुभवविषयः तादृक् तद् निरूपयति” (ब्र.सू.भा.३।३।७).

“उपासनाविषयेषु अखिलेषु अविशिष्टं ब्रह्मत्वं ज्ञात्वा तेषु एकतरं रूपं य उपास्ते तस्य तत्र सर्वे गुणाः उपसंहर्तुम् उचिताः. यस्तु अनन्तेषु विभूतिरूपेषु... (कञ्चिद् एकं) ब्रह्म इति ज्ञात्वा उपास्ते तस्य शाखान्तरीया अपि... (तद्) उपासनप्रकरणोक्ताः उपसंहर्तव्याः न अन्ये. तद्रूपम् अधिकृत्यैव तेषां गुणानां कथनात्” (ब्र.सू.भा.३।३।१२).

“सर्वरूपेषु मिथः सर्वधर्माणाम् उपसंहारः प्राप्तः. सच

ऐकान्तिकभक्तानुभवविरुद्धइति अत्र व्यवस्थितविकल्पम् आह... सर्वेषु अवतारेषु साधारणी बुद्धिः यस्य स सर्वत्र उपसंहारं करोतु नाम. यस्तु एकान्ती तस्य स्नेहोत्कर्षेण अन्तःकरणम् एकस्मिन्नेव रूपे पर्यवसितमिति रूपान्तरम् अन्तःकरणारूढं न भवत्येवेति न उपसंहारसम्भावनापि” (ब्र.सू.भा.३।३।७).

“प्रकृतेऽपि यद्रूपोपासनाप्रकरणे यावन्तो धर्माः उक्ताः, तस्मिन् रूपे तावद्धर्मवत्त्वनैव उपासना कार्या, तद्बोधकप्रमाणानुरोधात् नतु रूपान्तरोपासनप्रकरणोक्तासाधारणधर्मवत्त्वेनापि. तथा सति मत्स्योपासकस्य चापशरादिकमपि भावनीयं स्यात् पुरुषरूपोपासकस्य लक्ष्योजनायामशृंगादिकम्” (ब्र.सू.भा.३।३।३).

“ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं जगतो व्यतिरिच्यतइति न तत्र आसक्तिः कर्तव्या. एकस्मिन्पि पदार्थे सर्वलीलासहितो भगवान् अस्तीति च देशकालवस्तरूपः सन् देशकालस्तुभ्यो व्यतिरिच्यते” (सुबो.२।१।३५).

“प्राकृताः सकलाः देवाः गणितानन्दकं बृहत् पूर्णानन्दो हरिः तस्मात् कृष्णएव गतिर् मम” (कृष्णा.स्तो.८).

एतेन ब्रह्मणः स्वरूपतः एकरसस्यापि किल लीलायां विरुद्धधर्माश्रयताप्रस्फुटनेन अनेकरसतापि अविरुद्धैव, ततः पुष्ट्यादिसृष्टयः तत्तन्मार्गाः तत्तज्जन्मादयः एतदखिलानुरूपतत्तद्रूपाविष्करणेन एकस्यैव परमतत्त्वस्य अनकेविधाः आराधनाः सम्भवन्ति. तस्मात् स्वस्वरूप-स्वमार्गस्वरूप-स्वजन्मस्वरूप-स्वेष्टभगवत्स्वरूपादि-विवेकेनैव भगवतः सर्वगुणधर्मरूपलीलासु मध्ये यथोचितगुणधर्मरूपलीलानामेव निजाराध्ये भगवत्स्वरूपे उपसंहारो ह्युचितः. नहि दैत्यदानवगर्दभकीटादि-

रूपेण प्रकटस्तु भगवानेवेति तद्रूपेणापि सः आराधनीयोऽपि भवति. नहि वारवधूभोगवासनाप्रस्तस्य कामुकस्य पुरुषस्य वारवध्वां परमात्मबुद्धिः सात्त्विकी मुक्तिप्रदायिनी वा किं नाम अधोगतिकारिणी तामस्येव! तथापि सर्वत्र विषयवासनारहितानां त्रिगुणातीतानां ब्रह्मदर्शनकारिणां वारवध्वामपि ब्रह्मबुद्धौ न कश्चन दोषसम्भावनालेशोऽपि. तथैव निखिलवस्तुनि ब्रह्मतादात्म्यं ज्ञात्वा एकस्मिन् भजनीयोपाधौ ऐकान्तिकश्रद्धानुरागवतां भगवद्भाववताम् नहि परिमितोपाधिबुद्धिपरित्यागेन अपरिमितब्रह्मबुद्ध्या इतरोपाधौ प्रकटितानां ब्रह्मधर्माणां चिन्तनेन स्वभक्तौ चमत्कृतिः काचिद्! नापिच स्वश्वशुररूपगुणधर्मवति स्वभर्तारि भार्यायाः श्वशुरबुद्ध्या अभेदभावना दाम्पत्योपकारिणी भवेत्. तस्मात् “आत्मा



वै जायते पुत्रः” इति न्यायेन तयोः अभेदेऽपि भार्यायाः स्वभर्तारि श्वशुरतो भेदभावनैव योग्या. ततो भक्तानां कृतेऽपि अभेदबुद्धिपूर्विकैव भेदघटितस्नेहभावनैव उपकारिणी. ततोहि एकान्तिभक्तौ अन्याश्रयस्य दोषरूपता अङ्गीकर्तव्यैव. नच “एकान्तभक्तिः गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्” ( भाग.पुरा.७।७।५५ ) इति वचनाद् अन्यथा शङ्कनीयं, तदीक्षण-तद्भावोचितभजनयोः भेदाभ्युपगमात्. नच श्रीकृष्णे एकान्तभक्तिहठाग्रहे वस्तुजातस्य ब्रह्मतादात्म्यप्रतिपादकानाम् श्रुतिवचनानां विरोधः उद्भावनीयः, अक्षरब्रह्मविषयिण्यां ज्ञानोपासनायां एवम्भावस्य विरुद्धत्वेऽपि भगवद्भक्तिरूपायाम् उपासनायां न विरोधः कश्चित्. वस्तुतस्तु ज्ञानोपासनौपयिकस्वरूपनिरूपणेऽपि साधनदशायां सर्वं खलु अपरोक्षं वस्तुजातम् उद्दिश्य तस्य परोक्षां ब्रह्मात्मकतामेव आदौ अनधिगताबाधितार्थबोधिका श्रुतिः विधत्ते, नतु परोक्षं ब्रह्म उद्दिश्य अपरोक्षां सर्वात्मताम्. तथाहि “आत्मैव इदं सर्वम्” ( छान्दो.उप.७।२६।२ ) इति. इदमेव माहात्म्यज्ञानं भक्त्युपकारित्वेन तत्पूर्वाङ्गत्वेन अपेक्ष्यते. उत्तराङ्गत्वेन सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहएव. स पुनः लौकिकविषयकः चेत् तदा “अन्यो हि अन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः” ( छान्दो.उप.७।२६।२४ ) इति उक्तेः आलम्बनस्थायिभावौ भेदघटितावेव. यदातु ब्रह्म परमात्मानं भगवन्तं विषयीकरोति तदा “स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः” ( तत्रैव ) इति श्रुतेः तदभेदघटितौ तौ स्तः. “तद् धाम परमं मम” ( भग.गीता.१५।६ ) इति गीतोपदिष्टस्य अक्षरब्रह्मणएव इह ‘स्वमहिम्न’ इति पदेन परामर्शो भाष्ये प्रतिपादितः. सर्वनिर्णयप्रकाशेऽपि “वस्तुतस्तु आनन्दमयएव... न पुरुषोत्तमाद्

:: १२. एवं प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपे भगवति सेव्यसेवकोभयनिरोधात्मकं सेवनम् ::

ततः चरणारविन्दाभ्यां तुलसीदलम् उत्तार्य स्वयं गृहणीयात्. पुनः तुलसीदलं समर्पयेत्. धूपदीपौ कृत्वा बालभोगादिराजभोगपर्यन्तम् उत्सवभोगं च समर्पयेत्. ततः समयानन्तरम् आचमनं मुखवस्त्रं च कृत्वा वीटिकां वेणुवेत्रे समर्प्य चूर्णमयम् आरार्तिकं कृत्वा

भिन्नतया अवस्थितः किन्तु निरन्तरएव... मूलेन पुरुषोत्तमेन अविच्छिन्नतयैव तिष्ठति. कदाचित् पुनः पुरुषोत्तमः चेद् आविर्भवति तदा अक्षरमपि बहुधा भवति प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः. प्रभुः वैकुण्ठवासी लोको वैकुण्ठो जीव-जडाकारेण प्रादुर्भवति... ज्ञानमार्गेतु एतदेव सेव्यं कृष्णः ततो अधिकः” ( त.दी.नि.प्र.२।१००-

१०४ ) इति.

सिंहासने समुपवेशयेद् इति, तस्य सिंहासनम् इह एवम्भूताक्षरब्रह्मतया भाव्यम्, अक्षरब्रह्मेतरस्य भगवदुपवेशनार्हताभावात्. तस्माद् मूर्तौ हि पुरुषोत्तमाविर्भावे तत्सिंहासनस्यापि आधिदैविकाध्यात्मिकाक्षरब्रह्मात्मकतानुसन्धानार्थम् आहुः “अचीक्लृपन् आसनम् आत्मबन्धवे.” इति श्लोकं पठन् सिंहासनं स्पृष्ट्वा “रसो वै सः. रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति” इति ऋचं “योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः” इति श्लोकं पठन् इति. अयम् आशयः : रसरूपस्य भगवतो बहिःप्राकट्ये बाह्याधारापेक्षायां नहि लौकिकरसानामिव स्वेतराधारापेक्षा. तदिदं निरुक्तं “ब्रह्मविदानोति परं, तदेषा अभ्युक्ता सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” ( तैत्ति.उप.२।१ ) इत्यत्र एतद्वचनविवेचनपरे ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये ( १।१।११-१८ ) च.

तस्मात् भक्तेः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपतासम्पादनार्थं एवम्प्रतिष्ठापितस्य पुरुषोत्तमस्य सपर्याम् उपदिशन्ति ततः चरणारविन्दाभ्यां तुलसीम् इत्यारभ्य चूर्णमयारार्तिकं कृत्वा इत्यन्तं यावद्. वेदे हि “भर्ता सन् श्रियमाणो बिभर्ति” ( तैत्ति.आर.३।१४।१ ) इति उक्तेः तुलसीमालां तत्पत्राणि भगवान् स्वहृदय स्वचरणकमलयोः च बिभर्ति. असाधारणं हि इदं माहात्म्यं तस्याः भक्तिमार्गे. तद् उक्तं “तुलसिका भगवतः आभरणं... तुलसी अमृतोद्भवा यथा लक्ष्मी... भक्तिमार्गे तस्याः माहात्म्यं सर्वतो अधिकम्” ( सुबो.३।१५।१९ ) इति. तस्मात् भर्तृभूतेन भगवता निजाभरणतया तुलसिकावद् ये जीवाः स्वहृदये बिभरिषिताः तएव भगवति निजनिर्गर्भभृत्भावं बिभ्राणाः भगवच्चरणारविन्दभृत्याः भवितुम् अर्हन्ति. “यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्” ( मुण्ड.उप.३।२।३ ) इति श्रुतेः सर्वसमस्य परमात्मनः स्वस्वरूपविवरणाय यदा स्वांशेषु कस्यचन विशेषस्य वरणं क्रियते तदा पुष्ट्यात्मकः साधनरूपो हि भगवन्निरोधो भक्तस्य सज्जातो ज्ञेयः. एतेन साधनभूतेन निरोधेन फलात्मको निरोधस्तु भक्तस्य प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वको भगवदासक्तिरूपः. तदर्थमेव किल आचार्यचरणैः उक्तं “ये केचिद् यथाकथाञ्चिद् भवन्तु नाम त्वं सर्वभावेन भगवन्तं भजस्व. यावन्ति रूपाणि भजनीयानि ऐहिकपारलौकिकसाधनानि देहम् आरभ्य

यावन्तो भजनीयाः यैर्यैः भावैः च ते सर्वे भावाः भगवति कर्तव्या इति सर्वभावः... ‘भगवानेव सर्वं करोति’ इति उक्तेऽपि भजनाभावे न सिद्ध्यतीति भजनम् अवश्यं कर्तव्यम्” (सुबो.३।३२।२२) इति. एतेन जीवात्मनः फलात्मको निरोधएव प्रतिपादितः. यदा सर्वेऽपि भावाः निजाराध्ये भगवत्येव निरूढाः भवन्ति तदा तदनुभावकानां विषयाणां जीवे विस्मृतिं जनयन्ति. एवंहि उभयोः निरोधे भक्तेः पराकाष्ठा सिद्ध्यति. तस्मादेव सेवाभावनापद्येषु उक्तं “प्रसीद पूजितो भक्त्या तुलस्या प्रियगन्धया, निष्किञ्चनाधीश नान्यत् कर्तुं शक्नोमि सर्वथा” (रश्मि.परि.६८) इति.

इह सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मात्मकत्वे अवधारिते ब्रह्मणएव पुनः तत्समर्पणे परमा काचन निष्किञ्चनता हृद्यन्तः प्रादुर्भवति “नैव आत्मनः प्रभुः अयं निजलाभपूर्णः मानं जनाद् अविदुषः करुणो वृणीते यद्-यद् जनो भगवते विदधीत मानं तच्च आत्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः” (भाग.पुरा.७।९।११) इति न्यायेन. नेयं दर्शनार्थिजनेभ्यः भगवत्सेवौपयिकसामग्रीयाचितकरूपा दारिद्र्यक्लिष्टा निष्किञ्चनता प्रत्युत आत्मन्यपि ब्रह्मात्मकतासमृद्धिरूपैव. सच एतादृशो निष्किञ्चनतागन्धः तुलसिकामोदरूपएव भगवतो भृशं प्रियः.

वेणुवेत्रे इति, तत्र वेणुवेत्रे तु रुद्रब्रह्मारूपे “गोप्यो गावः ऋचः तस्य यष्टिका कमलासनः वंशस्तु भगवान् रुद्रः” (कृष्णोपनि.८) इति वचनात्. तत्र वेणोः कार्यन्तु सर्वेषां भगवदीयतासम्पादनपूर्वकं ब्रह्मानन्दादपि अधिकस्य भगवत्स्वरूपानन्दभोगयोग्यतासम्पादकस्य भगवदधरसुधारसस्य प्रवाहणं सुबोधिण्यां “तद्रसप्रवेशे निरोधः सिद्धः... सृष्ट्युत्पन्नानां भोगः एतत्पर्यवसायी, ततो विमोचनं स्वाश्रयप्रापणं च... अन्यथा सृष्टिः व्यर्था स्यात्” इत्येवं निरूप्य निरोधस्य निरूपणमपि “भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः, अधरामृतपानञ्च भोगो रोमोद्गमः तथा, तत्कूजितानां श्रवणम् आघ्राणं चापि सर्वतः तदन्तिकगतिः नित्यम् एवं तद्भावनं सदा इदमेव इन्द्रिवतां फलं मोक्षोऽपि नान्यथा यथा अन्धकारे नियता स्थितिः न अक्ष्णोः फलं भवेत्, एवं मोक्षोऽपि इन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि, बाधकानां परित्यागे साधकानां न तद् भवेद्” (सुबो.१०।१८।५-७) इत्यादौ कृतम्. ननु इह शृंगाररसात्मके तथाविधनायकभूते भगवत्स्वरूपे नायिकाभूतानां गोपिकानां हि शृंगाररसात्मकएव निरोधो “अतो अत्र स्त्रियः प्रकरणान्ते निरूप्यन्ते. भगवद्भोगानन्तरमेव भगवान् भोग्यो भवति. अतो

अत्र शुकोऽपि मुख्यतया स्त्रियएव वर्णयति” (सुबो.१०।१८।५) आचार्यचरणैरपि प्रतिपादितः. भगवन्मूर्तेस्तु भजनं पुनः सर्वभावेन चतुःश्लोक्याम् उपदिष्टमिति नहि ईदृश्याः भावनायाः अत्र कश्चन लाभः इति चेत् न लीलासामयिकं हि इदं निरूपणम्. तत्र लीलायां यथा व्रजस्त्रियो हि मुख्याधिकारिण्यः तदुपलक्षणेन सन्ति सर्वेऽपि जीवात्मनः भगवद्भक्त्यधिकारिणः. तथाच उक्तं “सर्वेषामपि भूतानां हरिः आत्मा ईश्वरः प्रियः... देवो असुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्वएव वा भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्” (भाग.पुरा.७।७।४९-५०) इति. अतो निरोधलक्षणे आचार्यचरणैरपि “हरिमूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि. दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा. श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः. पायोः मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्. यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते तदा विनिग्रहः तस्य कर्तव्यः इति निश्चयः” (निरो.लक्ष.१६-१९) इति शृंगाररसात्मकनिरोधाद् भिन्नप्रकारकस्य भक्तिरसात्मकनिरोधस्यापि निरूपणात् तत्र सर्वभावेन भजने शृंगाराद्यनेकरसभावानां सम्भवएवेति न विरोधः कश्चित्. रासोऽपि, तस्मात्, न केवलः शृंगाररसात्मकएव इति भ्रमितव्यं, “तादृशस्य भगवतो रतिरासो भवेद्, रतिविलासो भवेत्. ‘विलास’पदेन चरणस्य वशीकरणं सूचितम्. रतीनां वा बहुविधानां सर्वेन्द्रियविषयाणां रासो रससमूहः” (सुबो.३।७।१८) इति निरूपणात्. एवम् एतादृशभावनया मुरलिका भगवन्मूर्तेः करकमलयोः स्थापनीया.

वेत्रस्य कमलासनरूपत्वेन तस्मै च तदुपदेशव्याजेन सर्वेभ्यो भगवान् “अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः” (भाग.पुरा.३।९।४२) इति भक्तिमूलभूतं परमात्मभावं किल उपदिष्टवान्. यथा कैश्चिद् विस्मृतकण्ठमणिन्यायेन ब्रह्मज्ञानं न कृतिलभ्यं किन्तु पुनरनुसन्धातव्यमेव इति प्रतिपाद्यते; तथा, भगवद्भक्तिरपि न साधनजन्या किन्तु नित्यसिद्धैव. नच साधनोपदेशवैयर्थ्यम् आशङ्कनीयं, नित्यसिद्धाया अपि तस्याः भगवत्कृतवरणानुभावत्वेन प्राकट्याङ्गीकारात्, “सोऽहं तव अङ्ग्युपगतो अस्मि असतां दुरापं तच्चापि अहं भवदनुग्रहम् ईश मन्ये” (भाग.पुरा.१०।३७।२८) इति उक्तेः. तस्माद् यत्र भक्तिरूपो अनुभावः प्रकटो नास्ति तत्रापि विद्यमानस्य तस्य अप्राकट्ये भगवतो भक्त्यर्थवरणाभावएव हेतुत्वेन अवगन्तव्यः. तद् उक्तं “सर्वेषाम् आत्मनाम् अहम् आत्मा... अतः प्रीतिविषयत्वाद् मयि रतिं कुर्याद्... देहादिस्तु आत्मसम्बन्धात् प्रियः... ज्ञानमपि एतदर्थमेव मत्कृतं गृहणीयाद् इति... ज्ञानापेक्षयापि प्रीत्या शीघ्रमेव गृहणातीति प्रीतिरेव उच्यते... प्रीतस्तु अहं सर्वदा,

स्वभावतो अग्रहाणाद् अप्रीतएव. यथा स्वयमेव आत्मानमेव आक्रोशति. तन्निवृत्त्यर्थं रतिः उच्यमाना नित्यप्रीतिपरत्वेन उच्यते” (सुबो.३।९।४२) इत्यत्र. तस्माद् अनुग्रहेतरसाधनानां श्रवणादिनवकानां तनुवित्तजादिरूपाणां ब्रजभावानुभावनरूपाणामपि वा अनुग्रहावान्तरव्यापाररूपत्वमेव. तदर्थं स्वभगवद्भक्तेः निरुपाधिकतायाः सुदृढसर्वतोऽधिकस्नेहरूपतायाः च सिद्धयर्थं सिद्धस्य निर्वाहार्थं वा वेत्रमपि एतादृश्या भावनया भगवद्हस्ते स्थापनीयं, वेत्रधारणेन भगवान् एवम् उपदिशतीति वा.

:: १३. नित्यनिजधामलीलाविहारिस्वरूपभावनया मुक्त्यधिकभक्तेः परमोत्कर्षभावनार्थकम् ::

“नमो-नमस्ते अस्तु ऋषभाय सात्वतां विदूरकाष्टाय मुहुः कुयोगिनां निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः” (भाग.पुरा.२।४।१४) इति श्लोकेन नत्वा अनवसरं विदध्यात्.

इतः परं नित्यनिजधामलीलाविहारिस्वरूपएव स्वसेव्यइति भावनया भक्तेः मुक्त्यधिकोत्कर्षभावनार्थं सेवायाः अनवसरेऽपि भक्तेः कथापक्षावलम्बनेन च भगवल्लीलानुसन्धानोपदेशार्थं “नमो नमस्ते” इत्यारभ्य अनवसरं विदध्याद् इत्यन्तं यावद् भावनान्तरम् निरूपयन्ति. पद्यमेतत् श्रीशुकेन श्रीमद्भागवतकथोपक्रमे मंगलाचरणं यत् कृतं तदन्तर्गतम्. एतत्पद्यसुबोधिण्यां श्रीमदाचार्यचरणाः प्रतिपादयन्ति-

“काचिद् भगवतः सिद्धिः अस्ति ‘राधस्’पदवाच्या. न तादृशी सिद्धिः क्वचिद् अन्यत्र नवा ततोऽपि अधिका. तया सिद्ध्या भगवान् स्वगृहएव रमते. तच्च अक्षरात्मकं ब्रह्म. ‘रंस्यन्’ इति स्वनिष्ठमेव रसं तत्सम्बन्धाद् अभिव्यक्तं करोति इति. एतावता स्वरूपस्थितिव्यतिरेकेण न अन्यत्र रंस्यतीति भगवदीयो रसः तत्रैव प्राप्तव्यः. गृहञ्च तस्यैव तत्साधनं च निरतिशयसाम्या सिद्धिः. ततो अन्येषां सर्वथा तद्रसप्राप्तिः दुर्लभा. गृहसेवकस्य तु सुलभा इति. सहि स्वगृहे तां नीत्वा रंस्यति इत्यनया उपपत्त्या भक्त्येकलभ्यत्वम्. ‘स्वधामनि’ इत्यनेन नहि अन्यः तत्र गन्तुं शक्नोति इति सूचितम्. ब्रह्मत्वाद् अहेयत्वम्. निरन्तररसप्रवाहात् न सायुज्यापेक्षा.”

(सुबो.२।४।१४).

एतेन सेवावसरे ब्रजलीलाविहारिणो भगवतः सर्वभावेन सेवनं स्वधर्मः सेवानवसरे तु सएव भगवान् परब्रह्म परमात्मा परमानन्दरूपः नित्यं सर्गविसर्गस्थानपोषणादिदशविधलीलापरायणइति तन्निरूपकं भागवतमेव अनुसन्धेयम्. तद् उक्तम् “अत्रतु कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं च समर्थः ईश्वरः. ‘सद्यः’ इति भागवतश्रवणमात्रेण हृदयारूढो भवति, विचारचिन्तनव्यतिरेकेणापि” (सुबो.१।१।२) इति. एतेन भगवत्सेवौपयिकगृहे तत्रच सेवाकर्तृष्वपि अक्षरब्रह्मभावना उपदिष्टा भवति. तदिदम् उक्तं -

“कृष्णसेवा सदा कार्या... ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिः ब्रह्मबोधनम्. परं ब्रह्मतु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्, द्विरूपं तद्वि सर्वं स्याद्, एकः, तस्माद् विलक्षणं... अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः विधीयताम्. आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्राः व्योम्नीव चेतनाः. उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने गंगातीरस्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति; तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति. संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा अपेक्षितजलादीनाम् अभवात् तत्र दुःखभाक्. तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव चिन्तयेत्.”

(सिद्धा.मुक्ता.१-१६).

इह अक्षरस्य पुरुषोत्तमधामरूपता “अव्यक्तो ‘अक्षरः’ इति उक्तः तम् आहुः परमां गतिं यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम” (भग.गीता.८।२१) इत्यत्र उक्ता. धामरूपस्य अक्षरस्य निरूपणं श्रीमदाचार्यचरणैरपि “सर्वकारणानां पुरुषादीनामपि... कारणम्... तादृशमपि तद् अक्षरं पुरुषोत्तमस्य परब्रह्मणो धाम भवति देहस्थानीयं गृहस्थानीयं वा. यथा जगदात्मानो अक्षरस्य देहस्थानीयाः तथा अक्षरमपि भगवतः” (सुबो.३।११।४१) इति कृतम्. तस्यैतस्य प्रक्रिया ब्रह्मसूत्रभाष्ये एवं किल निरूपिता :-

“अथ वेदनपदार्थम् आह ‘यो वेद..’ इत्यादिना. अत्र इदम् आकृतं ‘यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्’ इति श्रुत्या वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वम् उच्यते. एवं

:: १४. भगवन्मूर्ताविव श्रीस्वामिनीमूर्तावपि उपदिष्टप्रादुर्भावरीत्यतिदेशः ::

श्रीमूर्तेरपि एवमेव, भगवता सहैव वा, एवंकरणे साक्षात् पुरुषोत्तमात्मकता सिद्धा.

सति श्रुतिद्वयविरोधपरिहाराय अक्षरब्रह्मज्ञानेन अविद्यानिवृत्त्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पाद्यते. तादृशे जीवे स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिः भवति इति निर्णीयते. गुहायां परमव्योमाविर्भावः, परो मीयते=दृश्यते अनेन इति तथा... गुहायां हृदयाकाशे यद् आविर्भूतं परमव्योमात्मकं व्यापिवैकुण्ठं तस्य पुरुषोत्तमगृहरूपत्वात् तत्र निहितं स्थापितमिव यो वेद.”

(ब्र.सू.भा.१।१।११)

श्रीमूर्तेः इत्यादिना साक्षात् पुरुषोत्तमात्मकता सिद्धा इत्यन्तं यावत्. ननु कथं तावद् इह श्रीमूर्तेः साक्षात् पूर्णानन्दरूपपुरुषोत्तमात्मकता उच्यते गणितानन्दरूपाक्षरब्रह्मात्मकतायाः तस्याः अभ्युपेतत्वाद् इति चेद् अत्र ब्रूमः : न तावद् अक्षरब्रह्म एकान्तेन गणितानन्दरूपमेव किमुत “गणितानन्दकं बृहद्” (कृष्णा.स्तो.८) इति उच्यते. “अल्पे” (अष्टा.सू.५।३।८५) इति अल्पार्थकेन ‘कन्’प्रत्ययेन गणितानन्दो अल्पीयानेव तत्र वस्तुतस्तु प्रचुरानन्दएव. तदिदम् उक्तं “ननु पुरुषोत्तमस्वरूपात् तत्र को विशेषः इति चेत् तत्र आह ‘आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि... ‘अग्रे अहम् एवं भविष्यामि’ इति इच्छामात्रेण अन्तःसमुत्थितसत्त्वेन आनन्दांशः तिरोहितइव भवति... ननु आनन्दांशतिरोभावे जीवत्वमेव स्याद् यथा महदादीनाम् इति आशङ्क्य आह ‘इच्छामात्रात् तिरोभावः तस्य अयम् उपचर्यते’ इच्छायां प्रविष्टायां कार्यव्यापृत्या तिरोभावइव उच्यते. वस्तुतस्तु आनन्दमयएव” (त.दी.नि.प्र.२।९९-१००) इति सर्वनिर्णये प्राचुर्यार्थक‘मयट्’प्रत्ययप्रयोगात्. अन्यदपि इह एतद् अवगन्तव्यं यत् सुबोधिण्याम् उक्तं “यदा भगवान् शक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा. सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता, यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा सापि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव... सापि सच्चिद्रूपा स्वार्थं तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपम्... साहि अक्षरस्य आनन्दरूपा” (सुबो.२।९।१३) इत्यत्र “सच्चिद्रूपत्वं स्वार्थम्”

:: १५. सेवारम्भे तथाविधानुभवाभावजनितोद्वेगवारणार्थकम् आश्वासनम् ::

प्रादुर्भावादिस्तु तं-तं प्रति तत्तद्भावानुसारेणैव. अतएव “तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि” (पु.प्र.म.१३) इति पितृचरणैः निरूपितम्.

इत्युक्तेः पुरुषोत्तमार्थन्तु न केवलं सैव किन्तु निखिलमपि नामरूपकर्मादिमत् चेतनाचेतनं जगत् पुरुषोत्तमात्मकमेव स्वस्यैव तथातथाविधरूपेण प्रादुर्भावात्, “देशतः कालतः योऽसौ अवस्थातः स्वतो अन्यतो अविप्लुतावबोधात्मा” (भाग.पुरा.३।७।५) इत्येवंरूपः. ननु एवं सति श्रीशक्तेः जडजीवादेः च स्वार्थम् अपुरुषोत्तमात्मकत्वेऽपि पुरुषोत्तमार्थं पुरुषोत्तमात्मकत्वाविशेषे तदुभयोः किं तारतम्यम् ? इति चेत् न, उक्तं पुरस्तादेव यत् सृष्टौ अवतारलीलायां वा श्रियः साक्षाद् भगवद्भोग्यात्वम् अन्येषाम् अन्यासां वा निखिलानां लक्ष्म्यवतारतया तदावेशाद् वा इति.

अतोहि आत्मक्रीडार्थमेव एकस्यैव अद्वितीयस्य अनेकधा प्रादुर्भूतत्वेन येन रूपेण येन नाम्ना यं प्रति यत् कर्म कर्तुम् वाञ्छति तन्नामके तस्मिन् रूपे तं प्रति तस्यैव कर्मणो अभिव्यक्तिः न अन्यस्य इति आह प्रादुर्भावादिस्तु इत्यारभ्य “तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि” (पु.प्र.म.१३) इत्याद्यन्तं यावत्. तस्यामेतस्याम् आत्मसृष्टौ जडजीवभेदवत् जीवेष्वपि पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदः, तदवान्तरभेदाः च, यथा शुद्धपुष्टि-पुष्टिपुष्टि-मर्यादापुष्टि-प्रवाहपुष्ट्यादिभेदरूपाः; तत्रापि देवदानवतिर्यङ्मनरादिभेदाः काल-कर्म-स्वभावैः प्रादुर्भवन्तीति तमेव परमानन्दम् एते जीवाः एतैर्हि हेतुभिः तारतम्येन अनुभवन्ति. तदिदं प्रतिपादितं “सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति... स एको मानुष आनन्दः. ते ये शतं मानुषाः आनन्दाः...” इत्यारभ्य “ते ये शतं प्रजापतेः आनन्दः स एको ब्रह्मणः आनन्दः... स एकः” (तैत्ति.उप.२।८) इत्यत्र. “नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति” – “एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति” (बृह.उप.२।४।५, ४।३।३२) इत्यत्रापि च. एतस्यैव उपोद्बलकं श्रीमद्भागवतीयं “अहम् आत्मा आत्मनां, धातः !, प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः” (भाग.पुरा.३।९।४२) इति वचनं

वरीवृत्यते. तदेतद् अखिलं हृदये निधाय आचार्यचरणाः वदन्ति -

१. “स्नेहो भक्तिः, ‘रतिः देवादिविषयिणी भावः इति अभिधीयते’ रतिः स्नेहो देवत्वं माहात्म्यं, तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते. अन्यथा वाक्यद्वयं ब्रह्मप्रकरणे व्यर्थं स्यात्.”

२. “अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्. स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धात् तन्नैकद्वयाद् अन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवद् यथा-यथा भगवन्नैकद्वयं तथा-तथा स्नेहातिशयः. शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह अतिनैकद्वयात् परमस्नेहवत्त्वम्. एवम् अध्यासेन अन्यत्र.”

३. “प्रीतिस्तु भगवद्धर्मो भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यः तं खण्डशं दत्तवान् सुखार्थम्. अतः यत्रैव प्रीयते तत् सुखं भवति. अतः स्वसुखमेव स्वस्य भवति.”

( त.दी.नि.प्र.१।४२ सुबो.१।१९।१६, २।२।७ )

इदम् अत्र अवधेयं : यद्यपि जीवात्मनो रतिः यत्र कुत्रापि चेत् सा भगवद्रतिरेव भवति, तथापि अन्याश्रयत्यागः अन्यरतित्यागः च भगवत्प्रपत्तौ भगवद्भक्तौ च भृशं अपेक्ष्यतएव, उभयोः सुदृढत्वाय सर्वतश्च आधिक्यायापि. अन्यथा भक्तिरेव निजं लक्षणं व्यभिचरेद्. तत्र अन्याश्रयः तावद् भक्तेः पूर्वाङ्गीभूतस्य माहात्म्यज्ञानस्य प्रतिकूला मनोवाक्कर्मणां प्रवृत्तिः. तथैव अन्यरतिरपि उत्तराङ्गीभूतस्य सुदृढस्य सर्वतोऽधिकस्य स्नेहस्य प्रतिकूला मनोवाक्कर्मणां प्रवृत्तिः. तेहि सम्यक्तया विनिगृहीते एव भगवदनुग्रहजन्यायां भक्तौ स्वरूपनिर्वाहकतया अवान्तरव्यापाररूपे भवतः. तत्रापि हेत्वाकांक्षायां सर्वोपनिषत्सारभूतायाः श्रीभगवद्गीतायाः तद्विस्ताररूपस्य श्रीभागवतस्य च निष्कृष्टतार्त्यस्य अज्ञानं तथात्वे अवसेयम्. तदेतत् सर्वशास्त्रनिर्गलितार्थोपदेशकं निजाचार्यवचनं परब्रह्मणः परमात्मनो भगवतः श्रीकृष्णस्य स्वरूपतद्भजनरीत्युपदेशकं षोडशग्रन्थादिगतम्. तदवगाहनेन निखिलप्रतिबन्ध-

:: १६.एवं

प्रतिष्ठापितस्य

श्रीपुरुषोत्तमस्य

भजनेतिकर्तव्यतानिरूपकग्रन्थकर्तव्ययोः उपदेशः ::

ततो अन्याश्रयत्यागपूर्वकं गुरुपदिष्ट-श्रीभागवत-भक्तिवर्धिनी-नवरत्न-प्रकारेण स एव भगवान् श्रीकृष्णो भजनीयः. अत्र उपपत्तिः भक्तिहंसे स्फुटीकृतेति न अत्र प्रपञ्च्यते.

निवृत्तिर्हि इति अभिप्रेत्य वदन्ति ततो अन्याश्रयत्याग... इत्यारभ्य मध्ये श्रीभागवत-भक्तिवर्धिनी-नवरत्न-प्रकारेण इति भजनप्रकारमपि उपलक्ष्य अन्ते स एव भगवान् श्रीकृष्णो भजनीयः इत्यन्तं यावत् भजनीयस्वरूपं च विनिर्धारितम्.

ननु अत्र भक्त्याचारोपदेशार्थनानाविधोपदेशरूपाणां प्रायः एकोनविंशतिसंख्याकानां उपदेशप्रधानग्रन्थानां मध्ये किमिति भक्तिवर्धिनीनवरत्नग्रन्थयोरेव प्राधान्येन प्रकारप्रेरकत्वम् उच्यते ? अत्र ब्रूमः : भागवतप्रतिपाद्यस्य श्रीकृष्णस्य भक्तिः तावद् स्वगृह एव आचार्यचरणानाम् अभिप्रेता न खलु सार्वजनिकदेवालये. यथा आधुनिकाः पू.पा.तद्वंशजाः तदनुगामिनः च मोहान्धकारे पर्यटन्तो हि अन्योन्यवञ्चनया परमे दिव्ये हि मार्गे आचार्योपदिष्टविपरीतां कुरीतिमेव मिमार्गयिषन्ति. यस्माद् “‘बीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम्’ अत्र गृहस्थानविधानेन स्वगृहाधिष्ठितस्वरूपभजनपरित्यागेन अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति” ( श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णविरचिता भ.व.व्या.२ ) इत्यत्र स्वगृहाधिष्ठितस्यैव भगवद्विग्रहस्य पुष्टिमार्गे सेवा कर्तव्यत्वेन मार्गणीया किल. तस्यैतस्य उपोद्बलकमपि “शास्त्रे सर्वथा हेयत्वेन उक्ताः गृहाः. सर्वनिवेदनपूर्वकं गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वतां तदुपयोगित्वेन तेभ्य एव मुक्तिः भवति इति अर्थः. एतादृशानां गृहाः भगवद्गृहा एव इति ज्ञापनाय ‘आयतन’पदम्... ‘आदि’पदेन स्त्रीपुत्रादयः संगृह्यन्ते. एतेन ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षः उक्तो भवति, बाधकानामपि साधकत्वात्” ( ब्र.सू.भा.३।३।३९ ) इति भाष्यकृद्वचनं भवति. यस्मात् च सार्वजनिकदेवालये निजात्मनः च स्वनिवेदितानां स्वीयानां च सर्वेषां निवेदनविषयिणी, अविनियोगविषयिणी, अन्यविनियोगविषयिणी चिन्ता अप्रसक्तैवेति. तथैव तत्र सार्वजनिकदेवालये वेदलोकयोः

:: १७. एतादृग्भजनप्रकारे उद्गासावाहनातिरिक्तपूजनरीत्याः अन्तर्भावइति कदाचिद् अशुद्धौ कर्तव्यबोधनम् ::

म्लेच्छचाण्डालादिस्पर्शे अन्यमार्गीयस्पर्शेऽपि पञ्चामृतस्नानाभ्यङ्गौ



कारयित्वा शृङ्गारं विधाय “तद्दर्शनाहलाद...” इति पूर्ववदेव.

अस्वास्थ्यविषयिणी चिन्तापि सुतराम् अप्रसक्तैव. अतो भगवत्सेवापरायणस्य भक्तिमतः सेवकस्य गृहएव प्रसक्ते एतदुभयोः ग्रन्थयोः इह सेवाप्रकारप्रेरकतोपदेशः. तत्र यद्यपि बाधकानां गृहादीनां भजनौपयिकत्वेन साधकीकरणं सम्भवति तथापि तत्र शक्योद्भवानां चिन्तानां विवेकधैर्यभगवदाश्रयभगवद्रतिपरिपन्थित्वेन कथमपि साधकत्वं न सम्भवतीति भक्तिवर्धिनीनवरत्नयोः किमपि अनितरसाधारणं प्राधान्यम् अस्मिन् विषये विद्यतएव. एतेन श्रीकृष्णस्यैव स्वतनुवित्ताभ्यां स्वगृहएव स्वसमर्पितस्यैव स्वस्वीयसर्वस्वविनियोगरूपा ब्रजभक्तभावानुभावनया स्वपरिवारजनैः अतीवनैश्चित्त्येन सेवा कर्तव्या इति निर्गलितार्थः.

म्लेच्छचाण्डालादि इत्यारभ्य पूर्ववदेव इत्यन्तं यावद्. ननु भागवते “शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती मनोमयी मणिमयी प्रतिमा अष्टविधा स्मृता” (भाग.पुरा.११।१७।१२) इति अष्टविधप्रतिमासु मध्ये न सर्वासां प्रतिमानां यथोक्तविधानेन प्रतिष्ठा वा शुद्धिः वा कर्तुं शक्येति का गतिः ? अत्र एतद् अवगन्तव्यं : यादृश्याः प्रतिमायाः प्रतिष्ठाविधौ पञ्चामृतस्नापनसंस्कारेण प्रतिमावर्णाकृतिलोपप्रसंगः तत्र “द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलवत्तरम्” इति न्यायेन दूरतो प्रोक्षणमात्रेण दर्पणे वा तत्प्रतिबिम्बस्य स्नापनेन अयं विधिः अनुष्ठेयो भवति. अपिच एतासु सैकत्याः प्रतिमायाः प्रतिष्ठा प्रत्यहं, नित्यावाहनविसर्जने चिकीर्षितत्वादेव. न पुनः अस्मन्मार्गीयभजनप्रणालिकायाम्. यथा उक्तं “उद्धासावाहने अत्र न स्तएव, मूर्तौ स्थितेः उपपादितत्वाद्” (त.दी.नि.आव.२।२२९) इति आवरणभंगे. ग्रन्थान्तरे वस्त्रसेवावादे भगवद्विग्रहोत्तीर्णवस्त्रांगरागवेण्वादीनामपि साक्षाद् भगवद्भावेन सेवायाः कर्तुं शक्यत्वेन आवरणभंगकारैः उपपादानात् तत्रापि अयमेव न्यायो अनुसन्धेयः.

नच वैष्णववार्तासु (द्रष्ट.२५२/१२४, १३६) वर्णाश्रमबाह्येभ्योऽपि अत्यजेभ्यः सेवार्थं भगवन्मूर्तिं प्रदत्तेति स्पर्श विना सेवायाः असम्भवेन तत्स्पृष्टमूर्तेः

पञ्चामृतस्नानाभ्यंगविधिः श्रीमत्प्रभुचरणैरेव न अनुसृतइति विसंगतिः शङ्कनीया, “किरातहृणान्धपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयो ये अन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः” (भाग.पुरा.२।४।१८) इति उक्त्या. अपिच निर्णयसिन्धूदाहते वाराहवचनेऽपि “शालग्रामं न स्पृशेत्तु हीनवर्णो...

स्त्रीशूद्रकरसंस्पर्शो वज्रस्पर्शाधिको मतः... यदि भक्तिः भवेत् तस्य स्त्रीणां वापि... दूरादेव अस्पृशन् पूजां कारयेत् सुसमाहितः... सर्ववर्णैस्तु सम्पूज्याः प्रतिमाः सर्वदेवताः लिङ्गान्यपि तु पूज्यानि...” (वारा.पुरा. १।१) इति वचनेनापि भक्तौ सत्यां प्रतिमापूजने वैधो अधिकारइति अनुपनीतेभ्योऽपि प्रपन्नभक्तेभ्यो सेवापूजनार्थं प्रतिमाप्रदाने दोषाभावः. नच तदा २५२/१२४तमायां वैष्णववार्तायाम् अत्यजाय शालिग्रामशिलायाः या सेवनानुमतिः प्रदत्ता सा न दातव्या आसीद् इति शङ्कनीयं, शालग्रामे नित्यसंनिधानोक्तेः अत्यजस्पृष्टेऽपि तत्संनिधानानपगमेन भगवतो दैविकविभूतिरूपेण स्पर्शपूजनयोरेव निषेधपर्यवसानं नतु साक्षात् परब्रह्मपरमात्मभगवद्रूपेण सेवने इति आशयेनैव स्वीयप्रमेयबलेन तस्मै अनुमतिः प्रदत्ता इति अनुमातव्यम्. तस्य पुष्टिभक्तिमार्गे दीक्षितत्वेनापि तथा. अन्यथातु अत्यजस्य तु स्पर्शे सत्येव पुनःपञ्चामृतस्नापनं किन्तु अवैष्णवस्यतु स्वसेव्यप्रदर्शनमात्रेण वार्षिकसेवानैष्फल्यं पुनःपञ्चामृतस्नापनमपि, षट्षष्टिरपराधनिरूपणे श्रीहरिरायमहानुभावैः उपदिष्टम्. तद् भगवत्सान्निध्यनिवृत्तिकल्पमेवेति पुनःप्रतिष्ठाकल्पं पुनःपञ्चामृतस्नापनम्. एतस्मादपि हेतोः सार्वजनिकदेवालये पुष्टिप्रभोः समाराधनं सिद्धान्तविपरीतमेव इति सिद्ध्यति. तस्यैतस्य सुविशदं निरूपणं कुविमर्शविशोधनिकायां कृतत्वेन विशेषाकाङ्क्षायां तत्रैव द्रष्टव्यम्.

तस्मादेव पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा इयं स्वार्था वा परार्था वा ? इति विचिकित्सायां गोस्वामिकुलगौरवकीलोत्पाटी वानरः कश्चिद् एवम् अभिप्रैति -

तनुजा कारिता भृत्यैः वित्तजा दर्शनार्थिभिः।

तनुवित्तजसेवैव ह्याचार्योक्ता स्वनुष्ठिता॥

जनतोद्धाररूपेयं देहगेहादिपोषिका।

जन्मजन्मान्तरादृष्टनियतार्थप्रदायिनी॥

कृष्णसेवोभयार्था हि कृष्णसेवोपदेष्टृणाम्

गोस्वामिनां चेच्छिष्याणां स्वाथैव स्याच्चिकीर्षिता॥

इति. हन्त ! किम् अत्र प्रतिवक्तव्यम् ! ऋते “मतिमान्द्याद् नीतिमान्द्यात्, भक्तिमान्द्यादपीदृशी विपरीता गतिर्या सा कुलगौरवनाशिका” इति निजाचार्यकुलविषयिणीं मनोव्यथाम् !! तथापि संक्षेपेण एतावदेव खलु प्रतिपिपादयिषितं यद् भगवत्सेवाभिलाषिणा निजगेहे भगवदाराधनार्थं यदि पुरुषोत्तमस्य प्रतिष्ठा चिकीर्षिता तदा स्वार्थैव प्रतिष्ठा यदितु निजानुगामिजनार्थं तदा परार्थ इति विवेके सत्यपि -

“सिन्धुतीरे सरित्कूले ग्रामे वा विपिनादिके ।

जगतां क्षेमलाभाय दुष्कृतां निधनाय च ॥

संस्थितो वासुदेवस्तु ‘परार्थ’ इति कथ्यते ।

सएव सर्वफलदः सर्वेषां मुक्तिदायकः ॥

तस्मात् सर्वजनैः सेव्यः परार्थः पुरुषोत्तमः ।

ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्राद्यैः स्वस्वसद्गानि ॥

स्थापितो देवदेवस्तु ‘स्वार्थः’ इत्यभिधीयते ।

पश्वारामगृहक्षेत्रपुत्राद्याः स्वार्थसम्पदः ॥

तन्मात्रदानाद् तद्देवः ‘स्वार्थः’ सम्परिकीर्तितः ।

परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत् ॥”

( श्रीप्रश्नसंहि. ५३ । १५१-५७ )

इति तयोः पार्थक्यस्य सुनिर्धारितत्वाद्, भक्त्याचारोपदेशार्थनानावाक्यनिरूपकाणां श्रीमदाचार्यचरणानां बहुषु ग्रन्थेषु नैकस्मिन्नपि ग्रन्थे परार्थभजनप्रकारोपदेशोपलम्भात् च इयं पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा नूनं स्वार्थैव इति न शङ्कावकाशः. नच तथोपदेशाभावेऽपि “जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्” ( सर्वो.स्तो. १२ ) इति नामोपलम्भेन परार्थभक्त्यनुष्ठानेऽपि न कश्चिद् दोषः इति वाच्यं, यद् अत्र प्राञ्चः एतन्नामव्याख्याकाराः

प्राहुः तदेव सावधानतया अनुसन्धेयं न पुनः लाभपूजापरायणानां देवलकानां मनःकल्पितार्थेन पुष्टिमार्गे मोहप्रसारः कर्तव्यः.

तथाहि -

१. “यद्यपि स्वभक्तेषु पूर्वोक्तैः स्वनामभिः स्वस्वरूपं ज्ञापितं तथापि सतु न वचनमात्रैकगम्यइति तेषां भजनप्रकारशिक्षार्थं स्वयं भजनं करोति इति एतद् ज्ञापनाय आहुः ‘जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्’ इति. स्वकरणोक्त्या स्वमार्गे भगवद्भजनस्यैव पुरुषार्थत्वं न अन्यस्यापि इति ज्ञापनायापि उक्तं ‘जनशिक्षा...’ इत्यादि. ‘कृष्ण’पदस्य फलवाचकत्वेन एतन्मार्गीयभजनस्य फलरूपत्वमेव नतु मार्गान्तरीयभजनवत् साधनरूपत्वमपि इति ज्ञापितम्.” ( श्रीगोकु.विवृ. ).

२. “ननु सतां हितकरणं भवतु नाम परं स्वयम् ईश्वरत्वे भगवद्भक्त्यादिकरणे को हेतुः ? इत्यत्र आहुः ‘जनशिक्षाकृते...’ इति.” ( श्रीहरि.विवृ. ).

३. “‘जनशिक्षा...’ इति. लोके सदानन्दभक्तिकर्ता स्वयं कृत्वा स्वकीयान् शिक्षयति.” ( श्रीविठ्ठलरायात्मजवल्लभानां विवृ. )

तस्माद् न स्वलाभपूजार्थं श्रीकृष्णसेवनं श्रीमदाचार्यचरणानां कल्पयितुमपि शक्यं यथाहि आधुनिकानां तद्वंशजानाम् अभिलषितम् अनुष्ठितं च उपलभ्यते ! तदर्थमेव श्रीहरिरायाः -

“अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः ।

विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः ॥

स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने ।

प्रयच्छेत् तत्स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः ॥

( स्वमार्गी.स्वरू.स्थाप. १६-१७ )

## इति श्रीविट्ठलदीक्षितविरचितः श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

इति निरूपयन्तः भक्तिदम्भाभावं भगवत्सेव्यस्वरूपप्रदान-सेवोपदेश-  
भावोपदेश-तद्दीक्षाप्रदानादिषु अर्थोपार्जनापेक्षाराहित्यरूपमेव उपदिशन्ति.

तस्माद् गुरुणा निजानुगामिनां कृते कृतायाः पुरुषोत्तमप्रतिष्ठायाः कथञ्चित्  
परार्थत्वेऽपि भगवन्मूर्तिसेवायाः परार्थानुष्ठानन्तु सर्वथा विगीताचरणमेवेति न  
पुष्टिमार्गीयैः भ्रमितव्यम्.

अत्र उक्तस्य पञ्चामृतस्य प्रकारस्तु श्रीपुरुषोत्तमप्रकटितो अवधेयो यो अत्र  
परिशिष्टे प्रदीयते. उपसंहरन्ति इति श्रीविट्ठलदीक्षित... इत्यादिना. इति शम्.

व्याख्यानेऽस्मिन् निजाचार्यवचनानि बहूनि हि ।  
संगृहीतान्यात्मबोधशुद्धये तत्कृपाबलात् ॥  
नच शक्तोऽस्म्यहं वक्तुं युक्तं वायुक्तमेव वा ।  
तथापि मन्ये व्याख्यानात् कृतकृत्योऽभवं न्वहम् ॥  
पुरुषोत्तमास्यवागब्धौ लब्धं चेद्यदि मज्जनम् ।  
पुरुषोत्तमप्रतिष्ठावष्टब्धा सेवना भवेत् ॥  
कृष्णप्रवणतासिद्धयै चित्तस्य तनुवित्तजा ।  
दुरन्त-स्वोदर-दरी-पूत्यै धूर्तैर् विदारिता ॥  
या हि सा नैव शास्त्रीया भक्तिभावात्मिका नवा ।  
लोक-प्रतारणायैव पुष्टिमार्गे प्रचारिता ॥  
कृपयन्तु सदाचार्याः कोऽपि मार्गानुगामिषु ।  
अर्थेहया ह्यनर्थाय मा भाक्षीत् पुरुषोत्तमम् ॥  
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः ।  
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा ॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितं

पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारविवरणं सम्पूर्णम्

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीवल्लभो विजयते जगदेकबन्धुः ॥

## ॥ श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार ॥

(सविवरणानुवाद)

सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने सदंशके रूपमें कालमें अपरिच्छिन्न होनेपर भी  
लीलया जन्मग्रहण करता है. वह किसी देशमें परिच्छिन्न न होनेपर भी अपने  
भक्तोंके बीच क्रीडार्थ आता भी है ही. स्वरूपेण अपरिच्छिन्न वह सर्वरूप होनेपर  
भी अपने पृथक् आनन्दरूपको भी कहीं प्रादुर्भावित करता है. पत्र पुष्प फल या  
जल, जो कुछ भक्तिके साथ उसे निवेदित किया जाये तो, वह अशना-पीपासासे  
सर्वथा रहित होनेपर भी भक्तभावित आकृतिद्वारा आरोगता भी है और पान भी  
करता है. ऐसे साकारब्रह्मवादके स्थापक, श्रुतिओंमें पारङ्गत, श्रीभागवतके गूढार्थके  
प्रकाशनमें परायण, पुष्टिमार्गके प्रवर्तक निजाचार्यको तथा उनके आत्मज  
श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणकी वाणीको भी नमन करके उसका विवरण करने प्रवृत्त  
होता हूं, उन्होंने मेरा वरण किया है बस इसी एक कारणवश.

श्रीमदाचार्यचरणने निबन्धमें “यथोक्त लक्षणवाला गुरु न भी मिलता हो तो  
स्वयं ही श्रीहरिकी मूर्तिका चयन करके उसकी परिचर्या तो, जहां अनुकूल हो वहां  
रह कर, सदा-सर्वदा करनी चाहिये. ब्रह्मके साकार तथा सर्वव्यापी होनेके कारण  
श्रीहरिके साथ-साथ उनकी रूपाकृति भी मूर्तिमें प्रकट होती होनेसे.  
भगवत्पूजनौपयिक मन्त्र भी शास्त्रमें उपलब्ध होते होनेसे भी. जो कुछ पूजोपचार  
सहजतया निजको उपलब्ध हों उनके द्वारा भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णका पूजन तो करना  
ही चाहिये.” (त.दी.नि.२।२२८-२२९) ऐसा प्रतिपादन किया है. अतः  
भगवन्मूर्तिके जड़ होनेके कारण, जन्य होनेके कारण, अविनाशी न होनेके कारण,  
व्यावर्त्य होनेके कारण जो मिथ्यात्व और हेयत्व की धारणा प्रस्तुत की जाती है  
उसका परिहार हो जाता है.

यह साक्षाद् भगवान् होनेके रूपमें भगवन्मूर्तिकी आराधना करनेका अपने-

आपमें प्रमाण है. “कोई जैसी उसकी उपासना करता है वैसा वह बन जाता है” (मुद्गा.उप.३।३) ऐसा श्रुतिवचन भी इस बारेमें प्रमाण है. अतः शिला धातु आदिमें उत्कीर्ण भगवदाकार अपने आराधकके उद्धारहेतु समर्थ हो या न हो परन्तु साक्षाद् भगवान् तो मूर्तिके रूपमें भी निःसन्देह अपने आराधकके उद्धारमें समर्थ हो ही सकते हैं.

इस पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा ग्रन्थमें मूर्तिघटक शिला या धातु की शुद्धिके हेतु जो पुरुषसूक्तद्वारा मार्जनका विधान किया गया है उसमें ‘सहस्र’ शब्द असंख्यताके अभिप्रायवश प्रयुक्त हुआ है. अन्यथा मस्तक और नेत्र के समसंख्याक होनेपर तो भगवान्का रूप अटपटा लगने लगा. इस रूपको अलौकिक मान लेनेपर वह अटपटा नहीं लगेगा ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि इस समस्याको दूसरी तरह भी सुलझाया जा सकता है. वस्तुतस्तु “सारे रूपों और तदनुरूप नामों को भी वह धारण करता है”, “ब्रह्म ही सारे नामों ... रूपों... और कर्मों को धारण करता है. अतएव ये रूप-नाम-कर्म तीन होनेपर भी आत्माके रूपमें एक ही होते हैं; और आत्मा एक होनेपर भी, इन तीनों रूपोंमें प्रकट होती है” (चित्युप.१२।७, बृह.उप.१।६।१-३) इत्यादि श्रुतिवचनोंके साथ पुरुषसूक्तके वचनका संवाद स्पष्टतया झलकता है. अतः उस परम तत्त्वकी सर्वाकारता ही यहां प्रतिपादनीय है.

अतः ब्रह्मके सर्वोपादान होनेके कारण वह सर्वरूप होता है, सर्वरूप होनेके कारण सर्वाकार होता है. अतः सभी आकारोंका ब्रह्मके साथ तादात्म्य उपपन्न होनेसे जो तत्तद् आकार स्वतोव्यावर्त्य लगते हैं वे भी ब्रह्मदृष्टिसे सर्वत्र विद्यमान ही होते हैं. उनके सर्वत्र विद्यमान होनेके बावजूद तिरोहित रहनेके कारण वैसा अनुभव हो नहीं पाता. वे यदि आविर्भूत हों तो सत्त्वेन अनुभव भी शक्य बन जाता है. यों वस्तुमात्रका जो ब्रह्मतादात्म्य है, वह तादात्म्यके भेदसहिष्णु अभेदरूप होनेके कारण उपपन्न हो जाता है. इसे भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान करनेकी अपनी इच्छासे “अपने स्वयंके नयनोंसे मुझे देख पाना सुकर न होनेसे, मैं दिव्य चक्षु तुझे प्रदान करता हूं” (भग.गीता.११।८) इस उपदेशमें प्रकट की तदनुसार दिखलाया भी है. यह दिव्यानुभाव भगवान्के द्वारा प्रदत्त दिव्यदृष्टिके द्वारा ही देखा जा सकता है. इसी तरह शास्त्रीय उपपत्तियोंके द्वारा परोक्षबोधके

रूपमें भी उपलब्ध हो पाता है. क्योंकि “यह सभी कुछ एतदात्मक है” (छान्दो.उप.६।८।७) ऐसे इस श्रुतिवचनमें भी विवक्षित है. क्योंकि इन्द्रियोंसे असन्निकृष्ट निराकार वस्तुका इदंकारद्वारा निर्देश शक्य नहीं. अतः सभी कुछ यहां भगवान्के आकारतया ही सिद्ध होता है.

“परमार्थतया तो ब्रह्म सन्मात्र निराकार ही होता है, साकार तो विकल्पात्मिका बुद्धिसे दिखलायी देनेवाला व्यावर्त्य होनेके कारण आविद्यक मिथ्या ही होता है. अतः भगवन्मूर्तिमें भी भगवान्का आकारो मिथ्या ही मान लेना चाहिये”, ऐसे वचन गंभीर विचार किया बिना कही जाती बात लगती है. लोकदृष्टिमें असत्के रूपमें मानी गयी वस्तुओंको भी पुरुषसूक्तमें “भूतकालीन या भविष्यकालीन यह सभी कुछ पुरुष ही है” कह कर भूत-भावी सभी वस्तुओंका भगवदात्मक होना कण्ठतः प्रतिपादित किया गया है. अतः जहां जैसे आकारको भगवान् प्रकट करना चाहते हैं वहां वैसा आकार लोकदृष्टिमें उपलब्ध होने लगता है. अन्यत्र वह उपलब्ध हो नहीं पाता.

यहां एक आशंका यह उठती है कि सभी आकार यदि भगवान्के ही आकार हों तो घट-पट आदि आकारोंको भी क्यों भजनीय नहीं माना जाता ? इस बारेमें आचार्यचरणोक्त समाधान - “ब्रह्मके सत् चित् और आनन्द यों तीन रूपोंमेंसे क्रमशः आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविक यों त्रिविध रूप देह जीवात्मा और अन्तर्यामी परमात्मा के प्रकट होते हैं” (त.दी.नि.२।११९-१२०) इसके आधारपर भगवान्मेंसे प्रकट आधिदैविक आकारोंकी ही उद्धारकता और भजनीयता मान्य की गयी है. अन्य आध्यात्मिक या आधिभौतिक आकारोंकी नहीं. क्योंकि उन आकारोंको भगवान्ने सृष्टिमें जीवात्माओंके उद्धारार्थ प्रकट नहीं किया. आधिभौतिक आकार यथा घड़ा कड़ा आदि आकृतियोंका मिट्टी या सुवर्ण आदिमेंसे लौकिक व्यापारोंद्वारा भी आविर्भाव यथादृष्ट शक्य होता है. अलौकिक जो ऐश्वर्यादि षड्गुणोंवाले परमानन्दात्मक आकार होते हैं, उन्हें भगवान् या तो अपनी इच्छा या ब्रह्मज्ञान अथवा भगवद्भक्ति रूपी, जो भगवान्के आविर्भावक शास्त्रोंमें उपदिष्ट आवाहनप्रतिष्ठादि कर्मरूप साधन होते हैं, उनके द्वारा ही आविर्भूत करते हैं. इनमें प्रेमरूपा भक्ति भगवान्के आविर्भावका हेतु बनती है यह “चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये. उसके बाद तो प्रेमपूर्ण चित्त सर्वत्र विद्यमान

भगवान्को स्वयं ही अपना विषय बना लेगा... भक्तिसे आविष्ट चित्त स्वयं ही भगवान्को खोज निकालता है” ( सुबो.२।६।३६ ) ऐसा श्रीमदाचार्यचरण निरूपण करते हैं.

यह आविर्भाव भी, कभी तत्तद्रूप और तत्तदर्थक्रिया यों दोनोंका होता है; तो कभी दोमेंसे किसी एकका ही. व्याघ्रकी लौकिक आकृति, उसकी काष्ठमूर्तिके उदाहरणमें, व्याघ्ररूपके विद्यमान होनेपर भी व्याघ्रकी अर्थक्रिया प्रकट नहीं हो पाती. इसी तरह नाटक आदिमें अभिनयकर्तामें अभिनेय चरित्रकी अर्थक्रिया प्रकट होनेपर भी अकृत्रिम अभिनेय रूप नहीं होता. अतएव प्रस्तुत ग्रन्थके उपसंहारमें प्रभुचरण “ऐसा कर लेनेके बाद मूर्तिके साक्षात् पुरुषोत्तमात्मक होनेका भाव रखना चाहिये. वैसा प्रादुर्भाव या वैसी लीला तो भावुकके प्रति स्वयं उसके भावोंके अनुसार ही होगी” यह जो कहते हैं वह भी संगत हो जाता है. यहां साधनावस्थामें भगवद्भजन उस मूर्तिमें “इस आत्मनिवेदी भजनकर्ताका मैं मेरे इस आकारद्वारा उद्धार करूंगा” ऐसी इच्छासे विशिष्ट भगवान्का आविर्भाव होता है. भजन, पर, जब तक फलदशाको प्राप्त नहीं होता तब तक वैसा अनुभाव मूर्तिमें प्रकट दिखलायी न भी देता हो तो भी विसंगतिकी कोई बात नहीं.

१.साकारव्यापक ब्रह्मके स्वरूपके अनुसन्धानद्वारा सेव्याकारके अधिष्ठानकी शुद्धिकी भावना :

अब श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार लिखते हैं : शुभ वार नक्षत्र योगादिसे युक्त सुदिन देख कर सेवनीय स्वरूपको पाटपर ठाड़ी मुद्रामें बिरजवा कर कुशद्वारा “सहस्रशीर्षा...” से आरंभ कर “सर्वं मनिषाण” तक पुरुषसूक्तका पाठ करते हुवे प्रोक्षण करके स्नानपात्रमें पधरा कर-.

यद्यपि प्रभुचरणने तो यहां पुरुषसूक्तके आद्यन्त प्रतीक ही उद्धृत किये हैं फिरभी अध्येताओंके पाठसौकर्यके हेतु हम अविकल पुरुषसूक्त उद्धृत कर देना चाहेंगे :

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥  
 स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥१॥  
 पुरुषएवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ॥  
 उतामृतत्वस्येशान यदन्नेनातिरोहति ॥२॥  
 एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पुरुषः ॥  
 पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥  
 त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवात् पुनः ॥  
 ततो विश्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥४॥  
 तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ॥  
 स जातो अत्यतिरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥५॥  
 यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ॥  
 वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मश्शरद्धुविः ॥६॥  
 सप्तास्यासन् परिधयः त्रिः सप्त समिधः कृताः ॥  
 देवाः यद्यज्ञं तन्वानाः अबधन् पुरुषं पशुम् ॥७॥  
 तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ॥  
 तेन देवाः अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥८॥  
 तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ॥  
 पशुँस्ताँश्चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्यांश्च ये ॥९॥  
 तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ॥  
 छन्दाँसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तास्मादजायत ॥१०॥  
 तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ॥  
 गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥११॥  
 यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ॥  
 मुखं किमस्य कौ बाहू कावूरू पादावुच्येते ॥१२॥  
 ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ॥  
 ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रो अजायत ॥१३॥  
 चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत ॥  
 मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१४॥



नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ॥

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाः अकल्पयन् ॥१५॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णस्तमसस्तु पारे ॥

सर्वाणि रूपाणि विचक्ष्य धीरः नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते ॥१६॥

धाता पुरस्ताद् यमुदाजहार शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः ॥

तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥१७॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥

ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥१८॥

अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताधि ॥

तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तत्पुरुषस्य विश्वमाजानमग्रे ॥१९॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥२०॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः अजायमानो बहुधा विजायते ॥

तस्य धीराः परिजानन्ति योनिं मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः ॥२१॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः ॥

पूर्वो यो देवेभ्यो जातः नमो रुचाय ब्राह्मये ॥२२॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तः देवा अग्रे तदब्रुवन् ॥

यस्त्वेवं ब्रह्मणो विद्यात् तस्य देवा असन् वशे ॥२३॥

ह्रीश्च तं लक्ष्मीश्च पत्न्यौ अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम् ॥

अश्विनौ व्यात्तम् इष्टं मनिषाण अमुं मनिषाण सर्वं मनिषाण ॥२४॥

(तैत्ति.आर.३।१३।२)

प्रोक्षण प्रायः शुद्धचर्चक होता है. यहां, परन्तु, शुद्धिसंस्कार भी केवल शास्त्रीय मर्यादाके निर्वाहहेतु या कर्मान्तरमें विनियोगार्थ ही संस्कारसंस्कृत पदार्थ होता है, ऐसे गौणभाववश इस प्रोक्षणका स्वरूप मान नहीं लेना चाहिये. यह प्रोक्षण तो साकारव्यापक ब्रह्मकी भावनाके उद्बोधनार्थ प्रयुक्त हुवा है. पुष्टिमार्गीय भजनका प्रकार श्रुति स्मृति तन्त्र आदि शास्त्रोंमें विहित न होनेपर भी उनसे अतिरुद्ध होनेकी कसौटीपर खरा उतरनेपर तथा भावरूप होनेपर ही स्वीकार्य बन

पाता है. यह बात भागवतमें -

“उन्होंने न तो श्रुतिवचनोंका अध्ययन किया था, न किन्हीं महापुरुषोंकी उपासना की थी, न कोई व्रत या तपस्या ही की थी... केवल सहज भावमात्रसे ही गोपीजन गायें खग मृग तथा अन्य भी अनेक मूढ़ बुद्धिवाले नाग आदि मुझे प्राप्त कर कृतकृत्य हो गये थे... अतः उद्धव ! तुम भी विधिनिषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति अथवा श्रोतव्य-श्रुत की चिन्ता छोड़ कर सर्वात्मभावके साथ केवल मेरी शरणमें आ जावो. मैं सभी देहधारियोंकी आत्मा हूं और मेरेद्वारा ही तुम पूर्ण निर्भय हो पाओगे.”

( भाग.पुरा.११।१२।७-१५ ).

यहां यह आशंका होती है कि अवतारकालमें तो भगवान्ने स्वयं अपने मुखारविन्दसे ऐसे वचन कहे हैं अतः वैसे निःसाधन जीवोंको भी भगवान्के स्वरूपानन्दका लाभ सोचा जा सकता है. सम्प्रति शास्त्रोंसे अतिरुद्ध होनेपर भी केवल भावात्मक भजनका अनुष्ठान और जलताड़न जैसी व्यर्थ क्रिया के बीच अन्तर क्या रह जाता है कि इसे कोई अनुष्ठेय माने ! दोनोंकी अविहितता सर्वथा समान ही लगती होनेसे ?

समाधानतया यह कहना चाहेंगे कि भगवान्ने स्वयं अपने मुखारविन्दसे “जो मेरे सामने जैसे प्रपन्न होता है उसे मैं उसी तरह भजता हूं” ( भग.गीता.४।११ ) ऐसा स्वीकारा है. अतः केवल भावके साथ भजन करनेवालेके प्रति भगवान्की भी वैसी ही अपेक्षा स्वीकार कर कृपाका प्राकट्य अवश्य स्वीकारना पड़ेगा.

यह तो कहा नहीं जा सकता कि केवल मूढ़ जन ही ऐसी निःसाधनकृपाके भाजन बननेको अधिकारी होते हैं शास्त्रविज्ञ नहीं, क्योंकि उद्धवको सकल शास्त्रोंके उपदेशके बाद ही अपनी केवलभावलभ्यताका उपदेश भगवान्ने दिया है. ऐसा भी नहीं है कि केवल भावात्मक भजनके बहाने बना कर शास्त्राज्ञाओंकी अवहेलना या अननुष्ठान महाप्रभु अथवा प्रभुचरण प्रतिपादित करते हैं, जिससे कि शास्त्राज्ञाओंके विरोधकी बात उठायी जा सके.

जैसा कि कहा ही गया है “जब तक देहाभिमान हो तब तक वर्णाश्रमधर्मको ही अपना स्वधर्म मानना चाहिये. क्योंकि देहाभिमानके प्रबल होनेपर भगवद्धर्म भी या तो विधर्म या फिर परधर्म जैसे रह जाते हैं. जब, परन्तु, जीव अपने-आपको देहादिके संघातसे व्यतिरिक्त मान पाता हो तो भगवद्वास्य ही स्वधर्म बन जाता है और वर्णाश्रमादि परधर्म” (सुबो.३।१८।२).

यहां वर्णाश्रमधर्मोंके बारेमें उनके ‘परधर्म’ होनेका विधान वर्णाश्रमधर्म देहाभिमानमूलक होनेसे देहधर्मरूप होते हैं ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये. इसके विपरीत भगवद्भजनको आत्मधर्मतया प्रतिपादित किया गया है. यह बात महाप्रभुने “‘उच्च कोटीके भगवदीय वैष्णव लौकिकता और वैदिकता तो कपटके साथ निभाते हैं परन्तु वैष्णवता उनमें सहज ही होती है” (पु.प्र.म.२०-२१) इस वचनमें कही है. यहां ‘सहज’ पद क्योंकि जीवात्माओंका पुष्टिजीवतया वरण अपने ब्रह्मरूपमेंसे व्युच्चरणके समय ही भगवान् जो कर लेते हैं उस अभिप्रायवश प्रयुक्त हुवा है.

यहां आशंका होती है कि आत्मनिवेदनके समय भगवान्के चरणारविन्दमें दास्यभावपूर्वक तुलसीदल समर्पित कर लेने मात्रसे यहां किस व्यक्तिका अपने देहगेहादिके बारेमें अहंममाभिमान निवृत्त हो पाता है? ऐसी स्थितिमें इतनी ऐसी दुर्लभ भक्तिका अधिकारी कौन हो सकता है! यह आशंका परन्तु उचित नहीं क्योंकि -

“‘निज आश्रमके अनुरूप आचारको निभाते हुवे ब्रह्मानुभवके साथ माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेह होनेपर ब्रह्मभाव प्रकट करता है. भक्तिकी फलरूपा अवस्थामें अपने आश्रमके आचारोंको निभाना फलानुभूतिमें प्रतिबन्धक लगता हो तो फलानुभूतिकी तन्मयतामें अपने आश्रमाचार छोड़े जा सकते हैं.”

“‘अन्य सभी शास्त्रोंकी तुलनामें वैष्णवतन्त्र शीघ्र ही हृदयग्रन्थिके विभेदक होते हैं. फिरभी परमपुरुषकी आराधनाके रूपमें ही भजन करना चाहिये उनकी विभिन्न विभूतिओंके रूपमें नहीं, अर्थात् केवल पुष्टिमार्गके अनुसार भजन करना चाहिये. इसके निर्वाहार्थ असमर्थ होनेपर भी तन्त्रोक्त

प्रकारसे भी भजन तो श्रीकृष्णका ही करना चाहिये. अथवा मर्यादाविधिके साथ समुच्चय करके भी भजन सम्भव है. किसी भी अवस्थामें जो पुष्टिमार्गमें अवस्थित हो उसे केशवका ही भजन करना चाहिये.”

“‘सकल अनर्थोंकी निवृत्ति दोनोंमेंसे किसी एक मार्गद्वारा शक्य है : भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग. इनके बीच भक्तिमार्गद्वारा संसारजनिका अविद्याका तिरोभाव शनैः-शनैः होता है... और सम्पूर्ण तिरोभाव भगवत्साक्षात्कार होनेपर हो जाता है. भगवत्साक्षात्कार होनेपर सारे मिथ्या स्वप्न दीखने बन्द हो जाते हैं, जागरितावस्थामें देह आदिमें आत्मबुद्धि रह नहीं जाती किन्तु... सर्वदा ब्रह्मानन्दकी अनुभूति होती रहती है... यों भगवत्सेवा दोनों ही मार्गोंमें हेतु बन पाती है. भगवत्सेवाद्वारा दोनों ही मिल पाते हैं. वह सेवा भी शास्त्रनिष्ठा और पञ्चरात्रोक्ता होनी चाहिये नकि स्वेच्छया यथाकथञ्चित् की हुयी”.

(<sup>१</sup>त.दी.नि.२।१९६, <sup>२</sup>सुबो.११।३।४७, <sup>३</sup>त.दी.नि.प्र.३।३।५८).

इस तरहके वचनोंद्वारा श्रीमदाचार्यचरणने कैसे भगवद्रूपकी किस अवस्थामें किस रीतिसे भजन करना, और उसके अनुकल्परूप कर्तव्य क्या-कैसे हो सकते हैं, क्या नहीं करना इत्यादि सकल विषयोंका विषयोंका उपदेश भलीभांति किया है. इसके आधारपर यह कहा जा सकता है कि अहंममाभिमानके तीन स्वरूप हो सकते हैं : १.परोक्ष अहंममाभिमति अर्थात् वैसी धारणा २.अपरोक्ष अहंममानुभूति ३.निखिल आत्मा और आत्मीय पदार्थोंका भगवान्को निवेदन किया होनेसे निखिल पदार्थोंमें उनके भगवदीय होनेका अहंममात्मक हृद्गत भावविशेष. इन तीनमेंसे आत्मनिवेदनद्वारा प्रथम प्रकारकी अहंममाभिमति निवर्तनीय मानी गयी है. गुरुद्वारा उपदिष्टमें श्रद्धा रख कर आत्मनिवेदन करनेवाले आधुनिकोंकी परोक्ष अभिमतिकी निवृत्तिमें कोई कठिनाई दिखलायी नहीं देती. अपरोक्ष अहंममानुभूतिकी निवृत्तिका न तो कहीं उपदेश मिलता है और न ब्रह्मके अपरोक्ष दर्शनसे पहले उसे सोचा भी जा सकता है; और नहीं अहंममानुभूतिकी निःशेष निवृत्ति भगवद्भजनमें उपकारिणी ही होती है. अतः उसका तो विचार ही अप्रसक्त है. तृतीय प्रकारकी अहंममानुभूति तो भगवद्भजनोपयोगिनी होनेके कारण अतिशय अभीष्ट ही मानी जाती है. अतः आत्मनिवेदनमूलक पुष्टिभक्तिका अधिकार उतना दुर्लभ नहीं रह जाता कि उसे कोई अशक्योपदेश मान पाये.

यहां एक आशंका यह होती है कि श्रुत्यादि शास्त्रोंसे विरुद्ध न होनेके कारण किसी तरह दोषरहित मान कर भी चलें पर विहित न होनेके कारण भजन करनेकी ऐसी रीतिको कोई भी अपनाना क्यों चाहेगा. इसके अलावा ऐसी अशास्त्रीय रीतिसे किये जाते भजनमें शास्त्रनिषिद्ध दोष; यथा आजीविकार्थ किया जाता भजन भजनकर्ताको अस्पृश्य देवलक बना देता है, अप्रसक्त होनेसे लागू कैसे होगा ? शास्त्रनिषिद्ध दोष शास्त्रीय कर्ममें ही लागू हो सकते हैं (उदाहरणतया सगोत्रकन्यासे विवाह शास्त्रोक्त वर्णाश्रमाचारवाले वैवाहिक संस्कारमें दोषरूप हो सकते हैं, पशु-पक्षी या वर्णाश्रमबाह्य मनुष्योंके लिये नहीं). क्योंकि शास्त्रीय दोषोंको लौकिक दृष्टिसे दोष होना आवश्यक नहीं होता. इस आशंकाका समाधान यह है कि मूलमें भक्ति न तो ऐकान्तिकतया विहित होती है और न सर्वथा अविहित ही. अतएव भागवतमें भी यही मिलता है कि -

“सभी जीवात्माओंके भीतर मैं परमात्मतया अवस्थित रहता हूं, सभी प्रिय वस्तु या व्यक्ति के भीतर मैं प्रियतम पदार्थके रूपमें अवस्थित रहता हूं अतः मेरे साथ रति करो, क्योंकि देहादि भी स्वयं मेरे ही कारण प्रिय लगते हैं.”

“जिन धर्मोंके अनुष्ठानका आदेश, मैंने, जिन गुण-धर्मोंके तारतम्यको जता कर, किया है उन्हें भलीभांति जान लेनेके बाद सब कुछ छोड़ कर केवल मुझे भजो. जो ऐसे भजता है वह सत्तम होता है... गृहदासकी तरह मेरी सेवा अपने घरमें निष्कपट भावके साथ करो. इस सेवाका न तो अभिमान करना अच्छी बात है, न दम्भ; और न इसका गाममें ढिंढोरा पीटना अच्छी बात है... जो लोकमें स्पृहणीय माना जाता हो, जो स्वयंको प्रिय लगता हो, उसे मुझे निवेदित करो तो क्षयिष्णु सुख प्रदान करनेवाली वस्तु भी शाश्वत सुख प्रदान करनेवाली बन जायेगी.”

( भाग.पुरा.३।९।४२ - ११।११।३२-४१ )

इन वचनोंमें ‘करो’ ‘भजो’ ‘निवेदन करो’ ऐसे आज्ञार्थक क्रियापदोंका प्रयोग किया गया होनेसे भक्तिको न तो ऐकान्तिकतया विहित और न सर्वथा अविहित ही माना जा सकता है. वस्तुतः तो यहां भगवान् अपने बारेमें स्वतःसिद्ध सर्वातिशायी प्रिय होनेकी बात “रति करो” ऐसे आदेशार्थक वचनद्वारा समझा रहे हैं. अतः शास्त्रोंके आदेशके बिना जो बात कथमपि सूझती न हो ऐसी किसी अपूर्व बातका

कोई आदेश यहां भगवान् दे नहीं रहे हैं. अतः अपूर्वविधिका तो अवसर ही नहीं. फिरभी “जो बात अपेक्षित प्रसंगमें और अन्यत्र भी प्रसक्त होती हो उसे केवल अपेक्षित प्रसंगमें नियत बनानेवाले आदेशवचन ‘परिसंख्या विधि’ कहे जाते हैं”, ऐसे नियमके आधारपर अलौकिक परमात्माकी तरह लौकिक विषयोंमें भी जीवात्माकी जो आसक्ति रहती है, उसका निवारण करना ही इस वचनका प्रयोजन सिद्ध होता है. अतएव “कृष्णसेवा सदा करनी चाहिये” इस वचनमें आवश्यकार्थक ‘कृत्’प्रत्ययकी विवेचना करते हुवे श्रीपुरुषोत्तमजी भी “किसी बातके आवश्यक होनेका अर्थ होता है : पहलेसे उस अवगत होनेपर भी बादमें उसके बिना अनिष्ट होनेका ज्ञान होना, अथवा कोई काम स्वतः कर ही रहे हों पर बादमें उस कामको न करनेपर किसी तरहके अनर्थके निश्चित होनेका भान होनेपर वह काम आवश्यक लगने लगता है. अतः आवश्यक लगना केवल विहित होनेके रूपमें लिया नहीं जा सकता” ( सिद्धा.मु.वि.प्रका.१ ) ऐसी व्याख्या देते हैं.

अतः भक्ति न तो ऐकान्तिकतया अविहित होती है और न केवल विहिततया अनुष्ठेय ही. परमानन्दरूप भगवान्में सभी प्राणिओंका सहज स्नेह स्वभावसिद्ध होनेके रूपमें निरूपित हुवा होनेसे, विधि अकिञ्चित्कर सिद्ध हो जाती है. फिर भगवान्ने ऐसा निरूपण क्यों किया ? इस शंकाका समाधान यही है कि यद्यपि भगवान् सभी प्राणिओंके लिये परमप्रिय होते हैं फिरभी उन्हें इस रूपमें पहचान पाना सभीके लिये सुलभ नहीं होता. किसीके भीतर स्वयं अपने परमप्रिय होनेका भाव भगवान् भरते हैं. तो अन्यके भीतर धर्म अर्थ काम मोक्ष रूपी चार पुरुषार्थोंके परमप्रिय होनेका भाव. तो तीसरे किसीके भीतर इन्द्रियविषयोंके परमप्रिय होनेका भाव भर देते हैं. तदनुसार भगवान्के द्वारा निर्धारित पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग या प्रवाहमार्ग के हेतु किये गये वरणसे यह नियत होता है. अतः पर्यवसानवृत्तिसे यह भगवान्का वचन स्वयं उनके द्वारा किये गये वरणका ही प्रत्यभिज्ञापक है, ऐसे समझना चाहिये. अतः भगवान्से इतर किसी भी विषयके बारेमें परमप्रिय होनेके भ्रमके निरसनार्थ ही यह वचन है. इसी तरह भक्तिमूलक भगवत्सेवा भी न तो ऐकान्तिक रूपमें वैध होती है और न ऐकान्तिक रूपमें अवैध ही. फिरभी जब कोई भगवान्की सेवा करता दीखता है तो उसमें कई प्रयोजन सम्भव हो सकते हैं. कोई निष्कपट धर्मबुद्धिसे, तो कोई कपटसे करता है. कोई अहंकारसे दूसरेको नीचा दिखानेको, तो कोई भक्त होनेके दम्भसे, तो कोई लाभ-पूजा पानेकी मनोविकृतिवश लोकमें प्रदर्शनार्थ भी कर सकता है. इन विरुद्ध स्थितिओंमें

भक्तिके रूपमें या भक्तिसिद्धिके प्रयोजनसे की जानेवाली भगवत्सेवाको अवसर ही नहीं मिलेगा. अतः आत्मधर्मकी बुद्धि रख कर भगवद्भजन करनेकी प्रेरणा देनेको यह वचन है, ऐसा निश्चित होता है. भगवान्‌के स्वरूपानन्दको प्रदान करनेवाले पुष्टिमार्गमें हमारा वरण होनेके बाद भी हम कहीं इन्द्रियविषयोंके लौल्यके प्रवाहमार्गपर भटकते न हों जायें ! भगवान्‌ हमें बचाये कि दम्भ अहंकार आदि आसुरी भावोंके विवश हो कर लौकिक काम राग या बल का अवलम्बन करनेवाली प्रवाही मानसिकता हमारे भीतर घर न कर जाये ! अपने शरीर और परिवार के पोषणार्थ आजीविकाके रूपमें ही भगवद्भजन करना कहीं हम अपना धर्म न मान बैठें. क्योंकि यह तो आसुरी जीवोंकी विशेषता है. जो पुष्टिजीव होगा वह तो ऐसा सोच भी नहीं सकेगा. यह प्रभुचरण और श्रीपुरुषोत्तमजी दोनोंने ही कह रखा है -

“‘श्रवण कीर्तन स्मरण आदि नौ प्रकारकी भक्ति अपने नौ प्रकारके अधिकारिओंद्वारा की जानेपर कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग उपासनामार्ग और भक्तिमार्ग के भी दोषभेदोंसे अनेकविध होती है... इनमें धर्म अर्थ और काम के प्रयोजनवश किये जाते श्रवणादि कर्ममार्गीय ही होते हैं. उनमें भी अर्थार्थी पुरुषद्वारा शास्त्रीय विधिके अनुसार किये जाते हों तब ही उन श्रवणादिको कर्ममार्गीय माना जाता है, पर शास्त्रनिषिद्ध आजीविकाके हेतु किया जाता भगवद्भजन तो खेतीबारीकी तरह लौकिक कर्म ही होता है; जैसे कोई शौचार्थी गङ्गाजलका उपयोग करता हो. उससे तो मलनिवृत्तिके सिवा दूसरा प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता. प्रत्युत निषिद्ध आचरणके कारण ऐसोंको तो पाप ही लगता है.”

“‘कृष्णसेवाका स्वरूप यही है, ऐसा समझानेको कहते हैं ‘चित्तका कृष्णप्रवण होना ही सेवा है...’ इत्यादि. उक्तसेवाके साधन साधन दूसरे क्या हो सकते हैं यह समझाते हैं ‘उसकी सिद्धि...’ इत्यादि द्वारा. वित्त दे कर अन्य किसी पुरुषके द्वारा करवाई गयी सेवाका एक प्रकार हो सकता है, इसी तरह दूसरेका वित्त ले कर की जाती सेवा उसका दूसरा प्रकार हो सकता है. ऐसी दोनों तरहकी सेवा चित्तको कृष्णप्रवण बना नहीं पाती हैं. यही जतानेको समस्त (‘तनुवित्तजा’)पदका प्रयोग किया गया है. अतः भगवान्‌को अपना सर्वस्व निरुपधि निवेदन करके भगवान्‌की ही सेवामें जब अपने देहका भी विनियोग कोई प्रेमके साथ करता हो तभी चित्त कृष्णप्रवण हो पाता है (सि.मु.वि.)”, “‘उस (कृष्णभक्ति)की परिपक्व दशामें स्नेहवश

किये जानेवाले वे ( श्रवण-कीर्तन आदि भक्तिके नौ प्रकार ) साधनरूप होते हैं. अतः श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य या आत्मनिवेदन के अन्तर्गत भक्तिका कोई भी प्रकार यदि दूसरे किसीको वित्त वेतनके रूपमें दे कर करवा लिया जाता हो तो उससे चित्तके भीतर राजस भाव ही प्रबल होंगे, कृष्णप्रवणता नहीं. यदि वेतनके रूपमें वित्त ले कर इन श्रवण कीर्तन आदि उपायोंको कोई करता हो तो, यज्ञयागमें जैसे ऋत्विजोंको यागफल नहीं मिलता किन्तु वित्तदाता यजमानको ही मिलता है, वैसे परवित्त ले कर कृष्णसेवा करनेवालोंका चित्त कभी भी भगवान्‌में चोंट नहीं पाता है. यदि कहा जाये कि यागफल जैसे वित्तदाता यजमानको मिलता है, वैसे ही सेवाका फल भी सेवार्थ वित्त प्रदान करनेवालेको मिलना चाहिये. यज्ञयाग और कृष्णसेवा के बीच अन्तर यही है कि वहां यज्ञयागमें ऋत्विजोंका वरण उन्हें कर्मसम्पन्न होनेके बाद दक्षिणा प्रदान करनेकी शास्त्रीय विधि है. इस तरह कृष्णसेवा किसी दूसरेके द्वारा सम्पन्न करा लेनेकी विधि भक्तिके बारेमें शास्त्रमें दिखलायी नहीं गयी है ( न्यायालयमें अपनी फरियाद वकीलको उसकी फीस दे कर करवायी जा सकती है परन्तु अपने प्रियतम या प्रेमिका के साथ प्रेमालाप किसी दूसरेको वित्त दे कर करवाया नहीं जा सकता ! ). अतएव भक्तिमार्गमें भक्ति करनेको दूसरे किसीको वित्त दे कर अपने प्रतिनिधि बनानेका विधान भगवान्‌ने कहीं कहा नहीं है. अतः ऐसा काम कभी नहीं करना चाहिये किन्तु भगवान्‌ने भक्ति करनेकी जो रीति बतायी है वैसे ही भक्ति करनी चाहिये (सि.मु.वि.प्र.).”

( ‘भक्तिहं. ‘सि.मु.वि.प्र.२ ) .

२. “‘भगवान्‌ आचार्यके वपुद्वारा अपनी गति प्रकट करते हैं” ऐसा कहा गया होनेसे भगवत्प्रादुर्भावार्थ सर्वात्मभमें निजाचार्यध्यान:

श्रीमदाचार्यचरणोंका ध्यान धरते हुवे -

अतः हमारे आचार्यचरणद्वारा प्रवर्तित इस शुद्ध पुष्टिभक्तिमार्गमें केवल हमारे आचार्यचरणके वंशज होनेके कारण ही पूजनीय माने जाते अपने ही आचार्यचरणके उपदेशोंमें श्रद्धा न रखनेवाले धनलालसाके वश अपनी भगवत्सेवाका जो जनतामें प्रदर्शन करते हैं, उन्हें निषिद्धाचरण करनेवाले आसुरी जीव ही समझना चाहिये. यदि पुष्टिभक्तिके हेतु भगवान्‌ने हमारा वरण किया होता तो हम ऐसे कभी हो नहीं

पाते. अतः श्रीमदाचार्यचरणके ध्यानद्वारा और उनके उपदेशोंके अनुसरणद्वारा शिला धातु आदि अधिष्ठानोंमें भगवदाकृतिके रूपमें भगवान् पुरुषोत्तम

श्रीकृष्ण प्रादुर्भूत हो कर हमारी भक्तिमार्गीय सेवाको अंगीकार करते हैं. यह समझाना चाहते हैं श्रीमदाचार्यचरणोंका ध्यान धरते हुवे वाक्यांशसे.

उपनिषद् गीता भागवत आदि शास्त्रोंमें इसका प्रमाण भी मिलता है. यथा : “<sup>१</sup>आचार्यसे प्राप्त हुयी विद्या ही पूर्णतया सिद्ध हो पाती है”, “<sup>२</sup>जिसका कोई आचार्य हो वही यह रहस्य समझ पाता है”, “<sup>३</sup>जो तत्त्वदर्शी ज्ञानी होंगे वे तुम्हें इस ज्ञानका उपदेश दे पायेंगे”, “<sup>४</sup>भगवान् अपनी गति आचार्यके वपुद्वारा प्रकट करते हैं” ( <sup>१</sup>छान्दो.उप.४।९।३ <sup>२</sup>छान्दो.उप.६।४।२ <sup>३</sup>भग.गीता.४।२४ <sup>४</sup>भाग.पुरा.११।२९।६) इस तरहके अनेक वचनोंके आधारपर यह सिद्ध होता ही है.

पुष्टिजीवोंके उद्धारकी इच्छाके वश भगवान्ने, पुष्टिमार्गीय आत्मनिवेदनकी दीक्षा प्रदान करनेका अधिकार और तन्मूलक निज सर्वस्वका समर्पण करके भगवत्सेवा करनेकी रीतिका उपदेश भी, हमारे आचार्यचरणोंके समक्ष और उनके द्वारा ही प्रकट किया होनेसे, उनके उपदेशसे विपरीत भजनका कोई प्रकार निरुपधि भगवद्भावरूप पुष्टिभक्तिमार्गीय तो माना नहीं जा सकता. ऐसी स्थितिमें जो न तो वेदादि शास्त्रोक्त मर्यादामार्गीय हो; और न अवैदिक बौद्ध जैन या यहूदी ईसाई या मुसल्मानों की भजन करनेकी रीतिवाला ही, तब तो न स्वधर्म और न परधर्म होनेसे अधर्म ही अर्थात् या तो निरा छलकपट या धर्मका झांसा ही मानना पड़ेगा. इस बारेमें कोई विप्रतिपत्ति हो नहीं सकती. अतः आचार्यचरणके ध्यान करनेका मतलब ही उन्हें अपना आचार्य मानना; अर्थात्, उन्हें अपने आत्मधर्मका उपदेशक मान कर उनका आश्रय करनेसे उनके उपदेशोंमें श्रद्धा बढ़ेगी ही. अतः ऐसा ध्यान तो अवश्य ही करना चाहिये.

अतएव महानुभाव श्रीसूरदासजीने भी गाया है “भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो. श्रीवल्लभनखचन्द्रछटा बिन सब जग मांझ अंधेरो. साधन और नहीं या कलिमें जासों होत निवेरो.” यहां “सब जग मांझ अंधेरो” जो कहा वह इस अर्थमें कि

पुष्टिसम्प्रदायके अनुगामिओंके लिये पुष्टिमार्गमें तो श्रीमदाचार्यचरण ही भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डरूप हैं. अतः उनके उपदेशसे विपरीत चलनेपर जैसाकि प्रभुचरण कहते हैं “हे श्रीवल्लभ ! आपके द्वारा कही गयी बातसे जो विपरीत बात कोई कहता हो तो वह स्वयं भ्रान्त ही नहीं प्रत्युत सहज आसुरी जीव होनेसे केवल अन्धन्तम नरकगामी होता है” ( श्रीवल्ल.३ ) तदनुसार इसी अन्धन्तमोरूप अन्धकारका उल्लेख इस पदमें भी समझना चाहिये.

३. “सारे कार्य भगवान्को समर्पित की गयी वस्तुओंसे निभानेपर सभी कुछ ब्रह्मरूप बन जाता है” ऐसा कहा गया होनेसे आत्मसमर्पणका अनुसन्धान :

महामन्त्र बोल कर दुग्ध आदि पांचों स्नानद्रव्योंमें तुलसीदल पधरा कर, मूर्तिको दो पीताम्बर धरा कर, स्नानकी चोकीपर भी एक पीताम्बर बिछा कर, शंखमें महामन्त्र बोल कर जल तुलसीदल और चन्दन भी पधरा कर, महामन्त्र बोलते हुवे ही पहले स्नान करावे. बादमें शंखमें दूध दही घी बूरा और मधु से क्रमपूर्वक उन-उन मन्त्रोंको बोलते हुवे स्नान करा ले. तब पुनः शुद्ध जलसे स्नान करावे.

श्रावण शुक्ला एकादशीकी मध्यरात्रीमें गोकुलमें यमुनाजीके तटपर साक्षात् पुरुषोत्तमने प्रकट हो कर श्रीमदाचार्यचरणोंको जो उपदेश दिया और जो प्रतिज्ञा ली कि -

“जिस किसी जीवका ब्रह्मसम्बन्ध कराओगे, उन सभीके देह और जीवात्मा के सारे दोष सेवामें प्रतिबन्ध नहीं होंगे... अन्यथा इन लोक-वेदोक्त <sup>१</sup>सहज, <sup>२</sup>देशज <sup>३</sup>कालज <sup>४</sup>स्पर्शज और <sup>५</sup>संयोगज दोषोंकी निवृत्ति कथमपि शक्य नहीं... जो इस तरह आत्मनिवेदन कर चुका हो उसे अपने सारे कार्य भगवान्को निवेदित-समर्पित की वस्तुओंसे ही चलाने चाहिये यह नियम है... सभी कार्योंके आरम्भमें ही सभी वस्तुओंका समर्पण करना चाहिये... लोकमें एक सेवक अपने स्वामी के साथ जैसे बरतता है वैसा ही दैन्यपूर्ण बरताव भगवान्के साथ करना चाहिये. अतः भगवान्को स्वामी मान कर सब कुछ पहले समर्पित कर देनेके बाद उन-उन वस्तुओंसे अपना



काम चलानेपर सभी कुछ ब्रह्मरूप हो जाता है.”

(सिद्धा.रह.२-८).

ऐसा अनुसन्धान सेवक और स्वामी दोनोंके ही भीतर जगानेको, स्वयं अपने और सेवोपकरणभूत अपनी सारी सामग्रियोंके समर्पित होनेके कारण शुद्ध होनेकी भावना करनेको इस कर्तव्यका उपदेश दिया जा रहा है : महामन्त्र बोल कर वाक्यांशसे आरम्भ कर शुद्ध जलसे स्नान करावे वाक्यांश पर्यन्त.

इसे देख लेनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आजकल जो ठाकुरजी पुष्ट करने अन्धरूढ़ि चल निकली है कि चित्र या स्वरूप के गोस्वामी चरणस्पर्श कर दे तो वे पुष्ट हो जाते हैं, वह तो सर्वथा अप्रामाणिक ही है (इस तरह छू लेने या चरणस्पर्श कर देने मात्रसे पुष्ट हो जाते हों तो चमचा-कटोरी लोटा-लंगोटा या मोबाइल-टी.वी. आदि सभी कुछ पुष्ट हो कर पुरुषोत्तमात्मक बन जायेंगे ! तब तो सभीको सेवामें पधराना पड़ेगा ! यदि छूनेसे नहीं परन्तु चरणस्पर्शसे ऐसा होता माना जाये, तब भी विवाहमें वल्लभवंशज वरको भट्टवंशजा अपनी वधुके और कन्याके वल्लभवंशज पिताको अपने होनेवाले भट्टवंशज जमाईके भी पैर छूने पड़ते हैं, सो इनके भी पुष्ट हो जानेके कारण अपनी पत्नी और अपने जमाई को भी सेवार्थ सिंहासनपर पधराये रखना चाहिये ! अतः चरणस्पर्श करनेसे पुष्ट होनेकी धारणा अप्रामाणिक है). अतः ऐसा वे क्यों करते हैं यह तो करनेवाले ही जान या कह पायेंगे !

एक शंका यह उठ सकती है कि श्रीमद्गोपीनाथ प्रभुचरणने जो “घरमें किसी तरहका प्रतिबन्ध होनेपर, गुरुके आदेश मिलनेपर, चित्रमात्रकी सेवा भी की जा सकती है” (साध.दीपि.८२) ऐसी बात कही है. सो यदि गुरुके वचनमात्रके आधारपर यदि सेवा शक्य हो तो चरणस्पर्श कर देनेपर वह शक्य क्यों नहीं हो पायेगी ? इसमें सन्देह क्यों होना चाहिये ! ऐसे प्रश्न करनेवालेसे यह प्रतिप्रश्न पूछना चाहेंगे कि आखिर यह कैसा दुराग्रह है कि प्रभुचरणने जो रीति पुष्ट करनेकी बतायी वैसे पुष्ट न कर के दूसरी ही अनकही मनघड़ंत रीतिके अनुसार सेव्यस्वरूप पुष्ट करने ?

इस सन्दर्भमें यह बचाव भी ठीक नहीं है कि आधुनिक वैष्णव साक्षात् पुरुषोत्तमकी सेवा कर पानेके अधिकारी न होनेसे उन्हें प्रभुचरणके द्वारा उपदिष्ट रीतिसे प्रतिष्ठापित भगवत्स्वरूप न पधरा देना ही उचिततर है. मनःकल्पित रीतिसे, क्योंकि, जो पुष्ट करनेका प्रकार चला रखा है, उसके कारण होनेवाली सेवा यदि पुरुषोत्तमकी न होती हो तो वैष्णवोंको अन्याश्रय दोषमें फंसानेके अपराधी क्या गोस्वामी नहीं बन जायेंगे ? यदि इस आरोपसे बचनेको साक्षात् पुरुषोत्तमकी सेवा मानें तो साक्षात् पुरुषोत्तमकी सेवा करनेका आधुनिक वैष्णवोंका अधिकार गले पड़ ही जाता है. यदि पुरुषोत्तमकी सेवा न मान कर उनके प्रतिनिधिभूत किसी अनुकल्पीय रूपकी सेवा मानें तो भी अन्याश्रय दोषकी आपत्ति तो दुरुद्धर ही रहेगी (क्योंकि यदि ठाकुरजीको गुरुभावसे पधराये जाते हैं ऐसा मानें तो श्रीमदाचार्यचरण ‘गुरु’पदद्वारा अभिप्रेत हैं या आधुनिक दीक्षादाता ? यदि आचार्यचरण अभिप्रेत हों तो श्रीकृष्णास्यतया अथवा शास्त्रोपदेष्टा आचार्यतया ? प्रथम कल्पमें पुनः पुरुषोत्तमात्मकता सिद्ध हो जायेगी. द्वितीय कल्पमें श्रीकृष्णलीलोचित पदगान और सेवाशृंगारभोग आदिकी रीति बाधित हो जायेगी. यही बात आधुनिक दीक्षादाताके बारेमें भी लागू होगी). अस्तु.

यहां “महामन्त्र बोल कर दुग्ध आदि पांचोंमें तुलसीदल पधरा कर... महामन्त्र बोल कर जल तुलसीदल और चन्दन भी पधरा कर महामन्त्र बोलते हुवे ही... स्नान करावे यहां पुनःपुनः ‘महामन्त्र’ पदद्वारा किस महामन्त्रकी बात की जा रही है ? क्या निवेदनगद्यरूप मन्त्र या पञ्चाक्षररूप या अष्टाक्षररूप या गोपालमन्त्र या गायत्रीमन्त्र ? इस प्रश्नको प्रस्तुत करनेका कारण यही है कि यद्यपि परम्पराके अनुसार दुग्ध आदिमें गद्यमन्त्रसहित पञ्चाक्षर बोल कर तुलसीदल पधराये जाते हैं. फिरभी साधनदीपिकामें “एतदर्थं श्रीगोपालमहामन्त्रका वरण करना चाहिये... उसके बाद सब कुछ समर्पित करके ही श्रीगोपालमन्त्रका आश्रय लेना चाहिये” (साध.दीपि.५६-५८) इस वचनमें पाञ्चरात्र वैष्णवतन्त्रोक्त श्रीगोपालमन्त्रको ही महामन्त्रके रूपमें निरूपित किया गया लगता है. अन्यत्र “गायत्री मन्त्र बोल कर शंखमें तुलसी और जल पधराने चाहिये” (साध.दीपि.११०) इस वचनमें शंखमें भरे तुलसी और जल द्वारा प्रोक्षणकी बात गायत्रीमन्त्र बोलते हुवे बतायी गयी है. अतः सन्देह होना स्वाभाविक है.

यहां समाधानतया यह ज्ञातव्य है : श्रीमदाचार्यचरणने “श्रीकृष्णके जो नाम हैं वे ही प्रमुख मन्त्र हैं” (त.दी.नि.१।४) ऐसा कहा होनेसे यद्यपि तीनों ही श्रीगोपालमन्त्र, अष्टाक्षर तथा सगद्य पञ्चाक्षर मन्त्रोंके ‘श्रीकृष्ण’नामघटित होनेके कारण ‘प्रमुख’ पदसे द्योतित उत्कृष्टता तो समान ही माननी पड़ेगी. फिरभी विनियोग तो जिसका जैसा वचनों या सदाचार द्वारा आदिष्ट या परम्परागत हो वैसा ही किया जाता है. इसी तरह गायत्रीमन्त्रमें अवतारकालिक नाम उपलब्ध न होनेपर भी गायत्रीमन्त्रकी भगवदर्थकता तो निःसन्दिग्ध ही है. अतः सदाचारके अनुरोधवश यहां वैकल्पिक रूपमें गोपालमन्त्र या निवेदनगद्यसहित पञ्चाक्षर मन्त्रका ही विनियोग उचित मानना चाहिये.

ऐसी स्थितिमें प्रभुचरणने भक्तिहंसमें गोपालमन्त्रको विभूतिपरक क्यों माना ? इस बारेमें श्रीप्रभुचरणका तात्पर्य स्वयं उनके वचनोंमें यों उपलब्ध होता है :-

“प्रेमात्मिका भक्तिके साधनतया किये जाते श्रवण-कीर्तन आदि भक्तिमार्गमें ‘मर्यादा-भक्ति’ कहे जाते हैं... स्नेह प्रकट होने बाद एक दिव्य व्यसन सा हो जानेके कारण किये जाते श्रवण-कीर्तन आदि उत्तम कोटीके पुष्टिभक्तिरूप होते हैं... स्नेहवश किये जानेपर ये स्नेहके ही अनुभाव बन जाते होनेसे स्नेहमध्यपाती ही होते हैं... एतावता यह सिद्ध हुवा कि कर्ममें जैसे विधि नियामक होती है वैसे भक्तिमार्गीय भजनकी रीतिमें स्नेह ही प्रमुख नियामक होता है, स्नेहवान् भक्तोंके लिये तो. किन्तु जिनके भीतर अभी स्नेह प्रकट न हो पाया हो उनके लिये स्नेही जनोंका उपदेश भी कुछ कालके लिये प्रमुख हो सकता है. उस उपदेशका, किन्तु, वेदादि शास्त्रोंसे अविरोद्ध होना आवश्यक है.”

( भक्तिहं. ).

ऐसे प्रतिपादनमें प्रभुचरणने भक्तिसे भिन्न किसी कामनाके पूरकतया किये जाते गोपालमन्त्रके अनुष्ठानको विभूतिपरक माना है. अतः अनिषिद्ध लौकिक कामनाओंके प्रबल होनेपर भी जहां मन्त्रोंमें विभूतिपरकता मानी जाती हो, वहां निषिद्ध रीतिवाली आजीविकाके प्रयोजनवश किये जाते भजनमें तो पुरुषोत्तमकी विभूतिकी कथा तो दूर केवल अन्धन्तम नरकके द्वार ही उघड़ते मानने पड़ेंगे !

भगवत्स्वरूपमें अत्यधिक स्नेह रखनेवाले श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणने जो उपदेश किया है तदनुसार वैसे स्नेहसे रहित आधुनिक हमारे जैसोंके लिये समर्पणगद्यके साथ सह गोपालमन्त्रको भी बोल लेना एक विकल्पके रूपमें निर्दुष्ट ही माना जा सकता है. अतएव प्रभुचरणके चतुर्थात्मजके घरमें भगवते कृष्णाय गोपीजनवल्लभाय ऐसा गद्यमन्त्रके साथ ही बोल लेनेकी प्रणाली है. यह श्रीगोपालमन्त्रके अंगभूत भगवन्नामके समुच्चयका ही अङ्गीकार है. अतएव इस घरकी दीक्षाप्रदानकी रीतिमें भी इसी तरहके उपदेश प्रदान करनेकी प्रथा कही-मानी जाती है.

अन्यथा गोपालमन्त्रको ऐकान्तिकतया विभूतिपरक माननेपर तो श्रीमदाचार्यचरणके सेवक श्रीकृष्णदासजीने जो उनकी स्तुतिमें पद गया “श्रीगोपालमन्त्र अष्टाक्षर पञ्चाक्षर के श्रवन कराये, गद्यमन्त्र सब जीवनिकों दे कृष्णचरण सबके चित लाये” ( श्रीकृ.साग.श्रीमहाप्र.१११० ) वह असंगत हो जायेगा. जो मन्त्र ऐकान्तिकतया विभूतिपरक हो उस मन्त्रसे चित्तका पुरुषोत्तममें प्रवण होना स्वीकारना अयुक्त लगता है. यहां एक शंका यह उठ सकती है कि तब “मन्त्रोपासना, वैदिकी या तान्त्रिकी दीक्षा अथवा अर्चना आदिकी विधिओंसे जो अस्पृष्ट रहता हुवा अपने भक्तोंके बीच रमण करता है” ( भक्तिहं.मंगलाच. ) ऐसा मंगलाचरण ग्रन्थोपक्रममें प्रभुचरणने क्यों किया ? परन्तु सावधानीके साथ विचारनेकी बात इसमें यही है कि पुरुषोत्तम इस तरह यदि ऐकान्तिकतया अस्पृष्ट हों तो प्रस्तुत पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार में भी वैदिक पुरुषसूक्त बोलनेकी विधि होनी नहीं चाहिये थी. अतः स्वीकारना पड़ेगा कि साधनबलसे पुरुषोत्तम अस्पृष्ट होनेपर भी पुष्टिभक्तिरूप प्रमेयबलसे वैदिक-तान्त्रिक मन्त्र या अर्चनाकी रीति पुरुषोत्तमपर्यवसायिनी भी हो सकती है. स्वयं श्रीमदाचार्यचरण भी अतएव कहते हैं “एकके प्रधान होनेपर अन्य अपने-आप विभूतिरूपता ग्रहण कर लेता है” ( त.दी.नि.प्र.३।३।५ ). अतः जब श्रीगोपालमन्त्रका जप आदि लौकिक कामनाओंकी पूर्तिके लिये किया जाता है, तभी वह विभूतिपरक होता है. नकि अहैतुकी साक्षात् पुरुषोत्तमकी भक्तिरूपा सेवामें उसका प्रयोग या विनियोग विभूतिपरक हो पायेगा. अन्यथा लौकिक देहपरक अहंकारका तथा इसी तरह लौकिक बन्धु वित्त गेह आदिपरक ममकारका भी “दासो अहम्”- “शरणं मम” मन्त्रवचनोंमें भगवान् श्रीकृष्णमें विनियोग भी हेय सिद्ध होगा ! तो अहंकारास्पद देहका अथवा ममकारास्पद बन्धु वित्त गेह आदिकी तो कथा ही

दूर हो गयी !

एक सन्देह यह और निराकरणीय लगता है कि आगे चल कर प्रभुचरणने भगवत्प्राकट्यवर्णन करनेवाले भागवतपद्योंको बोल लेनेके बाद “तब पुरुषोत्तमात्मकता प्रकट हो जानेपर” ऐसा प्रस्थापित किया है और समर्पण भी पुरुषोत्तमको ही किया जाता हो तो उससे पहले यह समर्पणकी भावना संगत कैसे होगी ? इस विषयमें यह जान लेना आवश्यक है कि यह कोई सर्वथा प्राथमिक समर्पण तो है नहीं. क्योंकि यह तो आत्मनिवेदनका स्मरण ही है. अतः अनुपपत्ति कुछ हो नहीं सकती. पूर्वकालिक आत्मसमर्पण न होनेपर तो पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाके कर्मको सम्पन्न करनेका अधिकार भी सिद्ध न होता होनेसे भी यही समझमें आता है.

यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि यद्यपि पञ्चामृतस्नापनमें ‘तत्तद् मन्त्र’ ऐसा पाठ सभी मातृकाओंमें उपलब्ध नहीं होता. केवल एक मातृकामें ही मिला है. अतः यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि यह पाठ प्रामादिक या प्रामाणिक ? इस बारेमें समाधान यह है कि श्रीपुरुषोत्तमचरणने अपने पञ्चामृतस्नापनप्रकारके ग्रन्थमें वैदिक मन्त्रोंका भी परम्परागत विनियोग प्रतिपादित किया है. प्रभुचरणद्वारा विरचित सेवापद्योंमें पृथग् भी कुछ स्नानोपयोगी द्रव्योंके साथ जुड़ी भावनाओंके प्रतिपादक स्तुतिरूप पद्य भी उपलब्ध होते हैं. ऐसी स्थितिमें उपनीत त्रैवर्णिकोंका ही वैदिक मन्त्रोच्चारणमें अधिकार मान्य होनेसे ऐसोंको श्रीपुरुषोत्तमचरणद्वारा उपदिष्ट प्रकारसे पञ्चामृत स्नापन कराना चाहिये. इसके विपरीत जो अनुपनीत हों उन्हें प्रभुचरणद्वारा उपदिष्ट पद्योच्चारण कर भगवान्को पञ्चामृत स्नान कराना चाहिये.

अतः वैदिकमन्त्रोंके उच्चारण करनेके अधिकारवाले उपनीतोंके लिये भगवान्के पञ्चामृतस्नापनके बोलनेके मन्त्र श्रीपुरुषोत्तमचरणद्वारा संगृहीत आनुपूर्वीसे प्रस्तुत करते हैं :

“पयस्वतीरोषधयः पयस्वद् वीरुधां पयः. अपां पयसो यत् पयस्तेन मामिन्द्रः सँसृज” (तैत्ति.संहि.१।५।१०) <sup>दूधसे स्नान कराते समय</sup>.

“ॐ दधि क्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः. सुरभिर्नो मुख्य करत्प्रण आयूँ षितारिषत्.” (तैत्ति.संहि.१।५।११). <sup>दहीसे स्नान कराते समय</sup>.

“मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः. माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः. मधु नक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवं रजः. मधु द्यौरस्तु नः पिता. मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः. माध्वीर्गावो भवन्तु नः.” (तैत्ति.संहि.४।२।१९). <sup>मधुसे स्नान कराते समय</sup>.

“घृतं मिमिक्षिरे घृतमस्य योर्निघृते श्रितो घृतमुवस्य धाम. अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्. समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपाँ शुना सममृतत्वमानट्.” (तैत्ति.आर.१०।१०।२।१). <sup>घृतसे स्नान कराते समय</sup>.

“शुक्रमसि ज्योतिरसि तेजोऽसि देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रं त्वा शुक्रायां धाम्ने-धाम्ने देवेभ्यो यजुषे-यजुषे गृह्णामि ज्योतिस्त्वा ज्योतिष्यर्चिस्त्वाऽर्चिषि धाम्ने-धाम्ने देवेभ्यो यजुषे-यजुषे गृह्णामि” (तैत्ति.संहि.१।१।१०). <sup>बूरासे स्नान कराते समय</sup>.

“ॐ आपो हिष्ठाः मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन. महेरणाय चक्षसे योवशिशवतो रसस्तस्य भाजयतेहनः उशतीरिव मातरः. तस्मा अरंगमामवो यस्य क्षयाय जिन्वथ आपो जनयथा च नः.” (तैत्ति.संहि.४।१।५). “ॐ हिरण्यवर्णांश्शुचयः पावका यासु जातः कश्यपो यास्विन्द्रः. अग्निं या गर्भं दधिरे विरूपास्ता न आपश्शस्योना भवन्तु. यासाँ राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानां मधुश्च्युतश्शुचयो याः पावकास्ता न आपः शँ स्योना भवन्तु. यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति याः पृथिवीं पयसोन्दन्ति शुक्रास्ता न आपः शँ स्योना भवन्तु” (तैत्ति.संहि.५।६।१). “पवमानः सुवर्जनः. पवित्रेण विचर्षणिः. यः पोता स पुनातु मा, पुनन्तु मा देवजनाः. पुनन्तु मनवो धिया. पुनन्तु विश्व आयवः. जातवेदः पवित्रवत्. पवित्रेण पुनाहि मा.” (तैत्ति.ब्राह्म.१।४।८।१).

“वसवस्त्वा परि गृह्णन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वा परि गृह्णन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽऽदित्यास्त्वा परि गृह्णन्तु जागतेन छन्दसा देवस्य सवितुः सर्वे कर्म कृण्वन्ति वेधसः.” (तैत्ति.संहि.१।१।१९।१७). <sup>शुद्धोदकसे स्नान कराते समय</sup>.

उपनयन संस्कार न होनेके कारण जिन्हें वैदिक मन्त्रोच्चारणका अधिकार न हो उनके लिये श्रीमत्प्रभुचरणद्वारा विरचित पद्योंको भी संगृहीत कर देते हैं :

पञ्चामृतेन भावात्म - रूपेणाति - प्रियेण ते ॥

स्नापयामि ततः स्नात्वा हृदि मे सुस्थिरो भव ॥१॥

प्रिया – हास्य – प्रभा – तुल्य – रूपेण पयसा गवाम् ॥  
 स्नानं समाचार विभो कम्बुस्थेन व्रजेश्वर ॥२॥  
 राधिका स्यामृत – कर – चन्द्रिका – विशदेन वै ॥  
 सरसेन घनेनेह दध्ना स्नानं समाचर ॥३॥  
 प्रिया धरामृत – स्पन्द – मधुरेण महाप्रभो ॥  
 शंखस्थितेन मधुना स्नात्वा मुदमवाप्नुहि ॥४॥  
 प्रिया – स्नेहैक – रूपेण घृतेन व्रजनायक ॥  
 स्नानं स्नेहात्मकं कृत्वा स्निग्धतां प्रकटीकुरु ॥५॥  
 प्रिया – प्रत्यंग – सौन्दर्य – माधुर्य – समतां गतम् ॥  
 तथा शर्करया स्नात्वा प्रत्यंगोच्छूनतां व्रज ॥६॥

यहां वैदिक मन्त्रों और प्रभुचरणविरचित पद्योंका पञ्चामृतस्नानमें समुच्चय क्यों नहीं माना जाता ? बात यह है कि : समुच्चय भी शक्य है और विकल्प भी. जैसा कि श्रीमदाचार्यचरणोंके सुबोधिनीवचनके आधारपर सिद्ध होता ही है.

तन्त्रागमान्तर्गत विष्वक्सेनसंहितामें प्रतिपादित प्रतिष्ठाप्रकारमें “पहले वैष्णवीकरण करे... उसके बाद साधक मूर्तिके मन्त्रोंद्वारा मन्त्रन्यास करे” (विष्व.संहि.१६।२२) ऐसा कह कर “सृष्टिन्यास स्थितिन्यास और संहतिन्यास... पच्चीस तत्त्वोंका प्रतिमामें न्यास करना चाहिये... अथवा देवाधिदेवके मन्त्रोंका न्यास क्रमसे सुनो. पहले चौबीस श्लोकोंवाला नारायणसूक्त देवके चरणोंका स्पर्श करके आचार्य बोल ले तब सोलह पद्योंवाला पुरुषसूक्त बोले. उसके बाद अथर्ववेदमेंके नारायणोपनिषद्मेंसे जो भी सृष्टि आदिके पद्य हैं, उन्हे तीन बार बोले” (तत्रैव.२५-२९) ऐसा निरूपण तो मिलता ही है फिर व्यर्थ ही इस प्रतिष्ठाप्रकारको क्यों स्वतन्त्र प्रकार मानना क्यों तन्त्रोक्त ही न मान लेना ? इसी तरह श्रीप्रश्नसंहिता आगममें भी “शिलाओंका अधिवासन करा कर... स्नापनार्थ घड़ोंमें भरे... घी... दूध... गन्नेका रस... पञ्चगव्य ... फलोंके रस... सुगन्धी पुष्पोंवाले जल... लोहजल... मधु... इनसे मूर्तिको स्नान करावे. गन्नेके रससे स्नान कराते समय ‘मधुवाता’ मन्त्र बोले,... फलोंके रससे स्नान कराते समय ‘फलिनी’ अनुवाक पढ़े, लोहजलसे स्नान कराते समय ‘हिरण्यगर्भ’ मन्त्र बोले, दहीसे स्नान कराते समय

‘दधिक्राव्णो’ मन्त्र बोले,... पञ्चगव्यसे स्नान कराते समय वारुण मन्त्र बोले, पुष्पोंके सुगन्धवाले जलसे स्नान कराते समय ‘गन्धद्वारा’ मन्त्र बोले” (श्रीप्र.संहि.६।३१-४१) यों तान्त्रिक प्रतिष्ठाविधिके अन्तर्गत भी पञ्चामृत आदि द्रव्योंसे स्नापनरीति निरूपित तो हुयी है. इन्हें देख कर, परन्तु, सन्देह होता है कि ये दोनों एक ही तरहकी क्यों नहीं हैं ? ये अन्तर क्यों है ? दूसरी बात थोड़ा-बहुत अन्तर मान कर भी चलें तो यह प्रश्न उठता है कि आगमोक्त प्रकारसे अन्तर पड़ा ही क्यों ? आगमोक्त प्रकारका यथाकञ्चिद् अनुसरण करनेपर जिन आगमोंका प्रामाण्य स्वीकार रखा है उसे छोड़ना पड़ेगा. दूसरी बात यह भी है कि स्वच्छन्दताको बढ़ावा देनेपर तो मार्गकी प्रामाणिकता ही नष्ट हो सकती है. अतएव मूर्तिपूजनके सन्दर्भमें महाप्रभु भी कहते हैं कि “आचार्यका कर्तव्य है कि वह अपनी बातकी सम्पुष्टि पञ्चरात्र आदि आगमवचनोंके द्वारा करे” (सुबो.११।३।४८). यों मूर्तिभजनके प्रकारमें तन्त्रागमोंका प्रामाण्य तो स्वीकारा ही है. अतः पिता और पुत्र के प्रतिपादनमें यहां परस्पर मतभेद जैसा जो कुछ लगता है वह लगना नहीं चाहिये ?

क्योंकि यहां श्रुति या तन्त्र आदि शास्त्रोंमें जो भजनका प्रकार दिखलाया गया है, उसके अंगभूत कर्मके रूपमें पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाकी पद्धति समझायी नहीं जा रही है. स्वयं महाप्रभु भी कहते हैं “परात्माकी विधिके अनुसार – नकि पुरुषोत्तमकी विभूतियोंके भजन करनेकी पद्धतिका अनुसरण करना चाहिये – अर्थात् केवल पुष्टिमार्गके अनुसार भजन करना चाहिये. वह कर पानेमें असमर्थ हो तो तन्त्रोक्त प्रकारसे भी अन्ततः कृष्णका ही भजन करना चाहिये” (सुबो.११।३।४७). अतः जो बात यहां आचार्यचरण कह रहे हैं, केवल पुष्टिमार्गीय प्रणालीसे पुरुषोत्तमभजनका तदनुसार ही प्रतिष्ठाप्रकारका निरूपण भी प्रभुचरण भी कर रहे हैं. अतः तन्त्रोक्त प्रकारसे कुछ भिन्न प्रकार होनेपर भी चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं है और न पिता और पुत्र के बीच कोई खास मतभेद दिखलायी देता है. न जिन तन्त्रागमोंका प्रामाण्य स्वीकारा है उन्हें छोड़ दिया गया हो ऐसा भी कुछ है. क्योंकि पुष्टिमार्ग और तन्त्रमार्ग के समुच्चयके कल्पकी बात जहां कही जा रही हो वहां ऐसी स्वतन्त्र प्रक्रियाका उपदेश दिया नहीं जाता.

उल्लेखनीय है कि विष्वक्सेनसंहिताके आगमोक्त प्रतिष्ठाप्रकारमें “वैष्णवीकरण

करे” इस वचनमें जो विष्णुसम्बन्धी न हो उसे विष्णुसम्बन्धी बनानेकी बात कही जा रही है. व्याकरणनियमके अनुसार ‘च्ची’प्रत्ययका प्रयोगका फलितार्थ यही होता है. जगत्के निर्माणके अनुरूप जो ऐच्छिक भेद भगवान्ने प्रकट किया उसे प्रधान मान कर दिया गया यह भजनोपदेश है. केवल पुष्टिमार्गमें, जबकि, “भगवान्में स्वरूपगत ऐक्य होनेपर भी भगवल्लीलामें पार्थक्य” का सिद्धान्त मान्य होनेसे सर्वत्र जगत् और जगत्सृष्टा के बीच तादात्म्य स्वीकारा गया है. अतः भक्ति और तन्मूलक परिचर्या का भी उपदेश तादात्म्यपर ही अवलम्बित है. इतना तारतम्य तन्त्रोक्त और पुष्टिमार्गीय प्रतिष्ठाप्रकारमें है ही. अतएव न केवल भजनीय भगवन्मूर्ति प्रत्युत “ये पांचो पृथ्वी जल आदि भूत विष्णुके पांच रूप हैं. भू भुव स्वः आदि भुवन भी विष्णु ही बना है. ये सारे वन भी विष्णु हैं. ये सारे पर्वत दिशायें नदियां समुद्र, सभी कुछ विष्णु है. जो है या जो नहीं उन सभीको विष्णुरूप ही जानना चाहिये” (विष्णुपुरा.२।१२।२८) इस विष्णुपुराणके वचनके अनुसार वस्तुमात्रका विष्णुरूप होना स्वीकारा गया होनेसे सभी कुछ विष्णु ही है. अतः वैष्णवीकरण अप्रासंगिक सिद्ध होता है. यही कारण है कि शिला या धातु आदि किसीमें भी वैष्णवीकरण कर्म अपेक्षित नहीं, सर्वत्र विष्णुकी भावना करनेमात्रसे सब कुछ शुद्ध हो जाता है.

यद्यपि वैसी भावशुद्धि भागवतोक्त (द्रष्ट.भाग.पुरा.७।१५।६२-६७) द्रव्याद्वैत-क्रियाद्वैत-भावाद्वैतोंके सिद्ध होनेपर ही सम्भव है, फिरभी क्रमिक सोपानोंके द्वारा उनका अनुवर्तन शक्य हो जाता है. भक्तिके पूर्वाङ्गभूत भगवन्माहात्म्यज्ञानमें उपयोगी भगवद्गीतोक्त “सभी भूतोंमें जिस कारण एक अव्यय भावका बोध होता हो ऐसा कि अनन्त विभागोंमें विभक्त नाम-रूप-कर्मोंमें एक अविभक्त तत्त्वका ज्ञान होने लगे, तो ऐसे ज्ञानको सात्त्विक समझना चाहिये” (भग.गीता.१८।२०) इस ऐसे सात्त्विक ज्ञानसे ही भगवन्मूर्तिमें यहां भावशुद्धि प्रथम एवं प्रधान भी मानी गयी है. अतः वैष्णवीकरण यहां अनपेक्षित ही होता है.

यह कथा भिन्न है कि भावाद्वैतकी तुलनामें द्रव्याद्वैत अधिक सुशक होनेसे प्रथम अपनाना चाहिये. इस द्रव्याद्वैतका निरूपण भागवतमें “स्वयं और स्वयंके पत्नी पुत्र आदि ही नहीं प्रत्युत सभी सभी देहधारियोंके स्वार्थ और काम का ऐक्य

स्वीकारना ‘द्रव्याद्वैत’ कहा जाता है. अतः जब तक कोई असह्य आपत्ति न आ पड़े तब तक जिसे जिसके द्वारा जिस हेतुवश जिसके लिये जो जहां निषिद्ध न हो... उसीसे अपने कर्मोंको निभाना चाहिये” (भाग.पुरा.७।१५।६५-६६) यों किया गया है.

यह द्रव्याद्वैत भगवत्सेवामें अधिकारसम्पादक होता है. यह महाप्रभुने “अपनी शक्तिके अनुसार स्वधर्माचरण करना चाहिये और विधर्मसे बचना चाहिये. अपनी इन्द्रियोंके अश्वोंपर लगाम कसी हुयी रखनी चाहिये. इन तीन बातोंको कभी छोड़ना नहीं चाहिये.... विधर्मका मतलब होता है जो काम निषिद्ध हो. इसमें यथाशक्तिकी बात नहीं कही जाती. क्योंकि निषिद्ध तो सर्वथा अकरणीय ही होता है” (त.दी.नि.प्र.२।२३८) समझाया ही है. आवरणभंगकारने इसका विवरण भी किया है :

“जो अनिषिद्ध भोग हो उसे भी सेवामें बाधक बन पानेवाले कामके निवर्तक होनेके रूपमें अपनाना चाहिये नकि इन्द्रियोंको भोग प्रिय लगता है इस हेतुसे... जो इतना कर पाने भी समर्थ न हो वह इन कामोंका उपभोग करते समय कमसे कम “वे आज नहीं तो कल दुःखद बन जायेंगे” इतना तो अनुसन्धान रख कर चले. जैसाकि भागवतके एकादशस्कन्धमें समझाया गया है कि इतना समझ पाना भी एक अच्छी शुरुआत हो सकती है कि “मैं इन हेतु कामोपभोगका त्याग करनेमें असमर्थ हूं.”

(तत्रैव)

जो इस बारेमें भी अपनेको अनधिकारी पाता हो उसका दूसरे दो अद्वैतोंका अधिकार स्वतः निरस्त हो जाता है. सो द्रव्याद्वैतके बाद आता है क्रियाद्वैतका अनुसन्धान “मन-वाणी-देहसे परब्रह्मको साक्षात् सर्वकर्मोंका समर्पण ‘क्रियाद्वैत’ कहा जाता है” (भाग.पुरा.७।१५।६४) यों दिखलाया गया है. यदि द्रव्याद्वैतका अनुसन्धान सिद्ध न हो पाये तो आसुरी कर्मोंका ही भगवान्को लोग समर्पण करने लगेंगे जो केवल पाषण्ड ही होगा. इन दो अनुसन्धानोंके सिद्ध होनेपर भावाद्वैतका अपरोक्ष अनुसन्धान शक्य न होनेपर भी परोक्ष शाब्दबोधरूप अनुसन्धान शक्य हो जाता है “कार्य और कारण कोई दो विभिन्न वस्तु नहीं किन्तु एक ही वस्तुकी दो अवस्था होती हैं, उदाहरणतया पट और तन्तु दो पृथक् वस्तु न हो कर दो पृथक् अवस्थामात्र होती हैं. इनमें दो वस्तु होनेकी अनुभूति अवास्तविक होती है. ऐसी समझ और/अथवा अनुभूति को ‘भावाद्वैत’ कहा जाता है” (भाग.पुरा.७।१५।६३)



इस वचनमें कहे प्रकारसे बादमें साक्षाद् अनुभूति भी कभी होने लगेगी. यों भावाद्वैतकी समझसे भावशुद्धि और वह भावाद्वैतानुभूति फलित हो जाती है “इन और ऐसे अन्य वेदोक्त उपायोंसे गृहस्थी भी अपने कर्मोंद्वारा भागवती गति प्राप्त कर... भगवान्में भक्तिमान हो पाता है” (भाग.पुरा.७।१५।६४-६७) इस तरह समझाया गया है.

यहां समझने लायक बात यह है कि वैसे तो द्रव्याद्वैत और क्रियाद्वैत का अनुसन्धान प्रारम्भमें तो मूर्तिरूपेण भजनीय भगवान्के स्वरूपके साथ; तथा उनके भजनानुकूल परिजनोंके साथ ही, माना और निभाया जाता है. अन्तमें परन्तु बढ़ कर उसका सर्वग्राही होना ही आदर्श स्थिति है. जैसाकि श्रीमदाचार्यचरण कहते हैं :

“शिव या विष्णु मेंसे किसी भी एकके प्रति समर्पित हो जानेपर आत्मा निश्चय तदीय हो जाती है. यदि तदीय न भी हो परन्तु दोनोंमेंसे किसी एकपर भलीभांति आश्रित हो तो अपना वर्णाश्रम धर्म अपने इष्टदेवके आश्रय और तदीयता को दृढ़ करनेको निभाते रहना चाहिये. अन्यथा दुगुना भार बढ़ जाता है.”

(बालबो.१८-१९).

“भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेना हो तो वर्णाश्रमधर्मको निभाते हुवे घरमें रह कर अव्यावृत्त हो कर कृष्णके पूजन और श्रवण आदिद्वारा भजन करना चाहिये.”

(भक्तिवर्धि.२).

इस तरह हम देख सकते हैं कि द्रव्याद्वैत और क्रियाद्वैत के अनुसन्धानद्वारा अहंकार-ममकार-को भक्तिके अनुकूल बना देनावाला एक विलक्षण संस्कार सम्पन्न हो जाता है. सुसंस्कृत अहंकार और ममकार समय पा कर भावाद्वैतकी अपरोक्षानुभूतिमें प्रतिबन्धक नहीं रह जाते. इस भावाद्वैतका निरूपण ही “उसने चाहा कि मैं अनेकधा प्रकट हो जाऊं”, “यहां ये सभी कुछ एक बन जाते हैं” (छान्दो.उप.६।२।३, बृह.उप.१।४।७) ऐसे अनेक श्रुतिवचनोंमें जो प्रतिपादित हुवा है. न तो यह द्वित्वका अत्यन्ताभावरूप होता है; और, न ही सृष्टिकी

इच्छाके कारण प्रकट किया हुवा लीलात्मक द्वैत भी एकत्वका अत्यन्ताभावरूप होता है. अतएव इस जड़जीवरूप जगत्का ब्रह्मके साथ तादात्म्य ब्रह्मके भीतर भक्त और भगवान् का द्वैत निभानेमें अर्थात् सेव्य और सेवक होनेके सम्बन्ध बांधनेमें अतीव उपकारक ही होता है, विघातक नहीं. भगवद्भक्तिकी अंगभूत सेवा और कथा रूपी साधनोंका निगूढ रहस्य यही है.

यों भावाद्वैतोपयोगी तादात्म्यके अनुसन्धानार्थ भगवन्मूर्तिमें आत्यन्तिकी भेदबुद्धि दूर करनेको तन्त्रोक्त वैष्णवीकरण किन्हीं अधिकारियोंके लिये विहित होनेपर भी पुष्टिभक्तिके प्रकारमें अनावश्यक माना गया है. ब्रह्मका जड़जीवरूप जगत्के साथ जो श्रौत तादात्म्य है और तन्मूलक इस भक्तिके प्रकारमें जिनका अधिकार न हो उन्हें तो श्रीमदाचार्यचरणोक्त “केवल पुष्टिमार्गके अनुसरणमें समर्थ न होनेपर तन्त्रोक्त प्रकारसे भी कृष्णका ही भजन करना चाहिये” (सुबो.११।३।४७). यों पुष्टिसम्प्रदायमें पुष्टिभक्तिके प्रकारसे शक्य न होनेपर भिन्न प्रकारसे भी श्रीकृष्णका भजन बहुत आवश्यक है. यह बात “जगदीशपुरीमें पंढरपुरमें श्रीरंगम्में तिरुपति बालाजीके मन्दिरमें; अथवा, ऐसी पूजाप्रणाली जहां भी अनुसरी जाती हो वहां रह कर श्रीकृष्णभक्तिमें तत्पर रहना चाहिये” इस कारिकाके प्रकाशमें और आवरणभंगमें भी “इन स्थानोंका उल्लेख वैकल्पिक है अनिवार्यतया नहीं... पूजाका निरन्तर अनुष्ठान भगवत्सान्निध्यका प्रयोजक होता है”, “यह प्रपत्तिमार्ग है जो भक्तिमार्गके अनुकल्पतया उपदिष्ट हो रहा है” (त.दी.नि.प्र.आ.२।२५५) इस तरह प्रतिपादन किया गया है. यहां ‘प्रपत्तिमार्ग’ मर्यादाभक्तिमार्गरूप होता है जिसे पुष्टिभक्तिके अनुकल्पतया कहा गया है. यह बात श्रीमदाचार्यचरण -

“पापकर्मोंका निर्हार अर्थात् दूरीकरण प्रायश्चित्तरूप होता है... वैदिक या तान्त्रिक मार्गोंसे जो पूजा करता है उसे तामससात्त्विक समझना चाहिये. परपुरुष भगवान्को अपने किये हुवे सारे कर्मोंके समर्पणके रूपमें जो श्रीहरिका पूजन करता है उसे राजससात्त्विक समझना चाहिये... किन्तु जो नित्यकर्मकी तरह भगवान्का पूजन तो कर्तव्य ही है ऐसा मान कर पूजन करता है उसे सात्त्विकसात्त्विक समझना चाहिये. इन सभीमें भगवान्को अपनेसे पृथक् मान पूजन करनेका पूर्वोक्त भाव होता है”. “भेद पारमार्थिक होता है ऐसे शास्त्रके आधारपर त्रिविध भक्तियोग समझाया गया... अर्थात्

तमोगुण रजोगुण और सत्त्वगुण के तारतम्यसे सगुणा भक्तिके तीन प्रकार होते हैं। हम जिस भक्तिको, किन्तु, समझाना चाहते हैं वह तो निर्गुणा भक्ति है। यों चारों प्रकारके भक्तिमार्ग मूलमें तो भगवान्‌के द्वारा ही प्रतिपादित हैं”।

( सुबो. १३।२९।१० १३।३२।३७ )

यहां अवधेय यही है कि श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणने जो साधनदीपिकामें “आचार्यका अनुग्रह पा कर” यहांसे आरम्भ कर “इस तरह नौमेंसे सात तरहकी भक्ति शरणागत जीव करनेका अधिकारी होता है” ( साध.दीपि.२४-३० ) कहा, इस वचनमें इसी भजनके प्रकारका विवरण दिया है।

४. “भजनमें उद्वेगके निवारणार्थ भगवान्‌को वस्त्र और आभूषणोंसे प्रेमपूर्वक अलंकृत कर सुन्दर बनाना चाहिये” ऐसा कहा गया होनेसे सुगन्धी द्रव्योंसे अभ्यंग करा कर भगवान्‌को वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करना चाहिये:

अंगवस्त्र करानेको पीताम्बर उतार कर कर उसे स्नानपात्रमें बिछा कर वहां प्रभुको पधराना। फिर फुलेल चुपड़ कर आंवला और चन्दन से अभ्यंग करा लेनेपर समोये जलसे स्नान कराने। फिर अंगवस्त्र कर श्याम मूर्ति हो तो उत्तर और अगुरुसार श्रीअंगपर लगाने। गौर स्वरूपमें वह आवश्यक नहीं। बादमें कुलह कण्ठवस्त्र आदि धरा कर यथाशक्ति आभरण भी धरा कर। श्याम स्वरूप होनेपर नेत्रालंकार भी धराने अन्यथा नेत्रोंमें काजल आंज कर गुंजामाला मयूरचंद्रिका और पुष्पमाला भी धरानी। वस्त्रोंपर भी अगुरुसार धराना चाहिये। अंगराग और कस्तुरी को पीस कर उनमें थोड़ा सा कपूर और चंदन डाल कर दोनों गालोंपर कमलकी तीन पांखुड़ी मांडनी। उसके बाद चंदनसे चुपड़े तुलसीदल दोनों चरणोंमें पधराने—

प्रकृत विषयके अनुसरणार्थ : मूर्तिको पंचामृतसे स्नान करा लेनेके बाद भगवन्‌मूर्तिमें बाह्येन्द्रियोंका घनिष्ठ अनुराग प्रकट हो पाये इसलिये मन बुद्धि अहंकार और चित्त में भी भगवत्प्राकट्य और भगवदनुराग के अभीप्सित होनेके

कारण उसीका उपदेश यहां दे रहे हैं पीताम्बर उतारनेको यहांसे प्रारम्भ कर बादमें अनवसर करे इस वाक्यांश तक। एतावता भगवत्स्वरूपमें निरोध साधनेवाली सेवाका उपदेश ही दिया गया है।

इसका निरूपण भागवतमें भी “राजा अम्बरीषने अपने मनको श्रीकृष्णके चरणारविन्दमें लग दिया, वैकुण्ठके गुणगानमें उनकी वाणी निरत हो गयी, श्रीहरिके मंदिरकी मार्जन आदि सेवामें अपने करोंको तत्पर बना लिया, भगवान्‌ अच्युतकी सत्कथाओंके श्रवणमें उनके कान तल्लीन हो गये, आंखें भी भगवान्‌ मुकुन्दकी मूर्ति और मन्दिर के दर्शनमें तत्पर हो गयी, उनके अंग भगवद्भक्तोंके साथ भेंटनेवाले अंग बन गये, घ्राणेन्द्रिय श्रीतुलसी, जो भगवान्‌के चरणकमलोंकी सुगंध धारण करती है, उसे सूंघनेका सुख लेने लग गयी, उनकी रसना भगवान्‌को धरे भोगका ही स्वाद लेनेवाली बन गयी, उनके चरण श्रीहरिके क्षेत्रोंमें यात्रा करनेवाले चरण हो गये, उनका मस्तक भी भगवान्‌ हृषीकेशके चरणोंमें झुक रहनेवाला मस्तक हो गया, इन्द्रियोंको सुख देनेवाले विषय भी भगवान्‌को अर्पित होनेसे भगवत्प्रसादके रूपमें उन्हें भाने लगे थे जैसा कि भगवदीय जनोमें भगवत्स्नेहवश होता है。” ( भाग, पुरा. ९।४।१८-१९ ) इस तरह दिखलायी गयी रीतिसे भक्ति निरोधावस्थाको प्राप्त कर सर्वात्मभावरूपा बन जाती है और इसीका उपदेश यहां प्रभुचरण देना चाहते हैं।

इसे श्रीमदाचार्यचरणने भी “श्रीहरिमूर्तिका ध्यान सदा लगाते रहना चाहिये, क्योंकि भक्तके भक्तिमय संकल्प और भगवान्‌के उस मूर्तिके रूपमें अपना कृपानुभाव जतानेके संकल्प के कारण भी भगवान्‌ वहां बिराजे होते हैं। अतः उस मूर्तिका दर्शन-स्पर्शन तो स्पष्ट ही भगवद्दर्शन और भगवत्स्पर्शन है, उस भगवन्‌मूर्तिके लिये अपने कर-चरणोंको सदा सक्रिय रखना चाहिये, इसी तरह भगवान्‌के स्वरूप गुणधर्म या लीला का श्रवण-कीर्तन समय अपनी सेव्य भगवन्‌मूर्तिके स्वरूप गुणधर्म या लीला के श्रवण-कीर्तनकी भावना रखनी चाहिये। अपनी पुत्रकामनाको भी भगवत्सेवामें सहयोगीकी कामनाके रूपमें उदात्त बनाना चाहिये... जिस इन्द्रियका कार्य भगवदर्थ कथमपि शक्य न हो उसे निश्चित ही संयत करनेका प्रयास करना चाहिये” ( निरो. लक्ष. १७-१९ ) निरोधलक्षण ग्रन्थमें भक्तिको निरोधरूप बनानेको यही उपदेश दिया गया है। भक्तिकी शुद्धि प्रपञ्चको भूल कर भगवान्‌में अनन्यतया आसक्त हो जाना है। इसे ही निरोधावस्थापन्ना भक्ति समझा जाता है। उसे प्रकट करनेको किस-किस इन्द्रियरूप करणका भगवान्‌के किस गुणधर्मसे भगवान्‌में

निरोध सिद्ध होता है यह भी श्रीमदाचार्यचरणोंने समझाया है :

“<sup>१</sup>अपने दिव्य रूपसे भगवान् मोक्षप्रद बन जाते हैं <sup>२</sup>दिव्य रससे आनन्ददायक, <sup>३</sup>अपनी दिव्य गन्धद्वारा भक्तिप्रद बनते हैं <sup>४</sup>अपने स्पर्शसे भगवान् हमारा सारा ताप हर लेते हैं, <sup>५</sup>अपने नादसे भगवान् हमारा मन हर लेते हैं <sup>६</sup>योगके द्वारा सायुज्यप्रद बनते हैं, <sup>७</sup>द्वेषद्वारा भगवान् जीवको कालकवलित बनाते हैं, <sup>८</sup>स्वामीके रूपमें भगवान् जीवको सभी तरहके सुख प्रदान करते हैं, <sup>९</sup>भगवान्में हीनभाव रखनेवालोंके लिये भगवान् दुःखप्रद भी होते हैं, <sup>१०</sup>वैसे अपने-आपमें केवल भगवान् तो सकल अर्थोंके दाता होते हैं, <sup>११</sup>जो बुद्धिद्वारा भगवान्को समझनेका प्रयास करता है उसे भगवान् योग प्रदान करते हैं, <sup>१२</sup>अमृतके एकमात्र सेतु भगवान्से जो अपने-आपको भिन्न मानता है उसके लिये भगवान् मृत्युप्रद बन जाते हैं, <sup>१३</sup>अन्यथा भगवान् जैसे हैं उन्हें वैसे ही स्वीकारनेवालेके लिये ज्ञानप्रद बनते हैं, <sup>१४</sup>जो भगवान्के साथ स्नेह कर पाते हैं उनके निश्चित ही आधीन हो जाते हैं.”

( त.दी.नि.३।६।८-११ )

इनमें देखा जा सकता है कि भक्तोंके लिये आविष्कृत दिव्य रूपसे नाद<sup>२</sup> तकके भगवान्के गुणधर्म भक्तोंकी चक्षुरिन्द्रिय रसनेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय त्वगिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय में भरी लौकिक विषयोंकी आसक्तिको उसकी क्षुद्रतासे छुड़ा कर अपनेमें निरुद्ध अनन्यासक्तिमें उदात्तीकृत कर देते हैं.

इसी तरह योग<sup>६</sup>से लेकर स्नेह<sup>१४</sup>के बीचमें -

१.योगेश्वरेश्वर होनेके कारण भगवान् योग<sup>६</sup>द्वारा अपनेमें प्रवेश प्रदान करते हैं; इससे आरूढ योगिओंके मनका निरोध कहा गया है. मित<sup>११</sup> अर्थात् बुद्धिद्वारा भलीभांति अवगत होनेपर बुद्धिप्रेरक भगवान् आरुरुक्षु साधकको योग प्रदान कर बुद्धिका निरोध सिद्ध कर देते हैं.

२.यद्यपि “मैं ही स्वयं ईश्वर हूं, मैं ही भोगी हूं, मैं ही सिद्ध हूं, मैं ही बलवान् और सुखी हूं, मैं सम्पन्न अभिजात हूं मेरे बराबर कौन हो सकता है... इस तरहके

अज्ञानसे लोग बहुधा विमोहित रहते हैं” ( भग.गीता.१६।१४-१५ ) भगवद्गीतामें वर्णित लक्षणवाले भगवान्को हीन मानते <sup>९</sup> हैं और ऐसे दैन्योपम दृष्टजनोंको भगवान् दुःख भी प्रदान कर उनकी अहंकारकी ग्रन्थिका भेदन कर उन्हें निर्मल बना देते हैं. मैं भगवान्का दास हूं और वे मेरे स्वामी<sup>८</sup> हैं, ऐसा दैन्यभाव रखनेवाले सेवापरायण जो दैवी जीव होते हैं, उन्हें अपनी सेवाद्वारा सारे सुख भी देते हैं. अतएव महा प्रभु कहते हैं “जो जीवात्मा ब्रह्मानन्दमें प्रविष्ट हो जाती है उन्हें केवल आत्माद्वारा ही सुखकी अनुभूति होती है, क्योंकि उनका देह आदि संघात अपने कारणभूत तत्त्वोंमें लीन हो जाता है. भक्तोंको, जबकि, सभी बाह्येन्द्रियों अन्तःकरण तथा आत्मचैतन्य द्वारा भी ब्रह्मानुभव मिलता होनेके कारण ब्रह्मानन्द अनेकधा मिल पाता है. अतः मुक्त होनेके बजाय अपने घरमें भगवत्सेवामें परायण होना भक्तोंके लिये मुक्तिसे भी बढ़ कर बात है” ( त.दी.नि.१।५०-५१ ). इससे सिद्ध होता है कि अपने सेवकोंके लिये भगवान् सर्वविध सुखोंके प्रदाता बनते हैं. इस तरह दो तरहके अहंकारों, <sup>१०</sup>मैं स्वयं परमेश्वर हूं और <sup>११</sup>मैं परमेश्वरका सेवक हूं, का दो तरहसे भगवान् निरोध करते हैं.

३.द्वेष<sup>७</sup>द्वेष ज्ञान<sup>१३</sup> स्नेह<sup>१४</sup>स्नेह रूपी भावोंको प्रकट करके भगवान् क्रमशः प्रवाहमार्गीय मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय जीवात्मा, जो उनकी चिदंशभूत होती हैं, उनका अपनेमें निरोध सिद्ध करते हैं. तीनों ही निरोधोंके प्रकारोंको क्रमशः मारण मोचन और भजन के रूपोंमें समझा जा सकता है.

इस तरहकी निरोधरूपा भक्तिके वश हो कर यदि भगवान् भक्तकी सेवा स्वीकारते हों तो भगवान्के भक्तवश होनेसे पहले न तो भगवन्मूर्तिकी पुरुषोत्तमता प्रकट होगी और न मूर्तिकी सेवा ही सार्थक सिद्ध हो पायेगी ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये. क्योंकि “<sup>१</sup>स्नेहाद् वश्यो भवेद् ध्रुवम्” ऐसा जो कहा गया है वह पुरुषोत्तमरूपता सम्पन्न होनेसे पूर्व भी अपनी मूर्तिके प्रति भक्तके अकृत्रिम स्नेहानुभावको निरख कर भगवान् भक्तवश हो कर भक्तानुष्ठित सेवाको मूर्तिरूपेण स्वीकार कर सकते हैं, ऐसे मानना आवश्यक है. यह भागवतमें भी कहा गया है कि “जैसी-जैसी बुद्धि रख कर भक्त आपकी विभावना करते हैं वैसे-वैसे स्वरूप आप अपने वास्तविक अनुग्रहद्वारा प्रकट करते हो” ( भाग.पुरा.३।९।११ ) इसकी व्याख्या करते हुवे सुबोधिनीकार कहते हैं -

“भक्तगण भगवान्‌के जैसे भी रूपकी विभावना करते हैं वैसा स्वरूप – वह चाहे ब्रह्मरूप हो या वैकुण्ठरूप हो या अवताररूप हो – भगवान्‌ प्रकट कर देते हैं। इसमें हेतु है सद्‌नुग्रह, अर्थात्‌ यह अनुग्रह सत्‌ होता है। ज्ञानसिद्ध होनेके बाद, किन्तु, वे ब्रह्मलीन हो जाते हैं। सो वह अनुग्रह बाधित हो जाता है। यहां भक्तोंके उदाहरणमें, किन्तु, अनुग्रह अबाधित रहता है। क्योंकि वह ब्रह्ममें स्वरूपेण लीन होनेके बजाय अपनी सभी वृत्तियों एवं सामर्थ्य द्वारा तल्लीन हो कर भजन करता रहता है। भक्तको तो सायुज्य भी भजनानन्दमें बाधक नहीं बन पाता।”

(सुबो.३।९।११).

ऐसा ही प्रतिपादन अन्यत्र भी उपलब्ध होता है:

“<sup>१</sup>कर्मयोग आदि सभी कृष्णके प्रकट होनेके हेतु बनते हैं। परन्तु इनके द्वारा प्रकट होता श्रीकृष्णका स्वरूप उदासीन होता है। अतः फलानुभूति भी सर्वात्मना नहीं हो पाती। जबकि भक्ति करनेपर तो स्वयं श्रीकृष्ण भी अति-आदरके साथ प्रकट हो कर अपने-आपको भक्तको सौंप देते हैं।”

<sup>२</sup>“जैसे कोई पिता अपने बालकका मन रखता है, वैसे ही भगवान्‌ भी भक्तका मनोरथ निभाते हैं। अतएव तो सर्वातिशायी प्रेमके वश हो कर भगवान्‌ने गोपीजनोंकी कामना पूर्ण की। अतः निरुपाधिक सेवा और निष्काम भजन करनेपर कोई भी भक्त भगवान्‌का दर्शन अपनी योग्यताके अनुरूप पा सकता है। यह अन्यथा कथमपि शक्य नहीं होता। प्राणीमात्रपर दयाभाव रखनेवाले, जो मिले उससे सन्तुष्ट रहनेवाले और अपने इन्द्रियलौल्यका उपशम करनेवाले, पर जनार्दन भगवान्‌ शीघ्र ही सन्तुष्ट होते हैं... अतः अपनेसे जो बन पड़े उतनी ही भगवत्‌सेवा करनी चाहिये। उससे अधिक सेवा करने या न्यून सेवा करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।”

<sup>३</sup>“प्रेमसे की जाती सेवा सभी उदाहरणोंमें सेव्यको वशमें करनेका हेतु बनती है।”

(त.दी.नि.२।३१२-३१३, तत्रैव प्र.३१५-३१७, ३२३).

यहां प्रथम वचनमें “भक्ति करनेपर तो स्वयं श्रीकृष्ण भी अति-आदरके साथ प्रकट हो कर अपने-आपको भक्तको सौंप देते हैं।” ऐसा जो कहा गया सो अपनी मूर्तिके रूपमें भी प्रकट हो कर अपने-आपको भक्तको सौंप देनेमें जीवात्माके भीतर भक्तिका अकृत्रिम अनुभावका पहले प्रकट होना भगवान्‌को भी अपने प्रमाणबलका प्रयोग करना हो तो अपेक्षित रहता है। अतः मूर्तिके पुरुषोत्तमत्तना प्रकट होनेसे पूर्व भी वैसे भक्तिमय मूर्तिके उपचार उस भक्तिके अनुभावरूप ही होते हैं। दूसरे वचनमें “<sup>१</sup>निरुपाधिक सेवा <sup>२</sup>निष्काम भक्ति <sup>३</sup>और अपनेसे बन पड़े ऐसे उपचारोंका समर्पण द्वारा भगवान्‌के दर्शन पाये जा सकते हैं” ऐसे निरूपणके कारण अपने भजनका गाममें जनताके सामने प्रदर्शन, और उस प्रदर्शनको भी जनतासे धन एकत्रित करनेके प्रयोजनसे करना ही सकामता है। इसे स्वपरमार्गीय सभी दर्शनार्थी जनताके धनसे भगवान्‌के सुखविचारका पाषण्ड करना तो सकाम भक्तिको निषिद्धकामरूपा बनाना है। सेवाकी चल पड़ी ऐसी कुरीति अपने मार्गमें अतीव हेय है। तीसरे वचनमें ऐसी ही सेवा प्रेमके साथ निभ पाये तो वह सेव्यको सेवाकर्ताके वश्य बना पाती है, यह रीति उपदिष्ट हुयी है। ऐसी सेवाके द्वारा अपना और स्वयं अपने पदार्थोंका भगवान्‌के हेतु विनियोग सुकर हो पाता है।

इसी भजनरीतिकी अनेककविध इतिकर्तव्यता प्रधानतया <sup>१</sup>सिद्धान्तमुक्तावलीमें <sup>२</sup>नवरत्नप्रकाशमें <sup>३</sup>भक्तिवर्धिनीमें <sup>४</sup>निरोधलक्षणमें <sup>५</sup>पञ्चश्लोकीमें <sup>६</sup>चतुश्लोकीमें उपदिष्ट हुयी हैं –

“<sup>१</sup>चित्तका श्रीकृष्णप्रवण होना सेवा है। वह अपने तनुवित्तको सेवाप्रणालीसे श्रीकृष्णार्थ विनियोग करनेपर सिद्ध होता है”, “<sup>२</sup>इस सेवाकी प्रणालीमें सेव्य प्रभुको दानरूपेण धन अन्न वस्त्र आभूषण आदि विनियुक्त किये गये हों तो उन्हें अपने काममें पुनः लिया नहीं जाता किन्तु निवेदित/समर्पित करनेपर लिया जा सकता है”, “<sup>३</sup>भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेका उपाय तो अपने घरमें रह कर अपना वर्णाश्रमधर्म निभानेवाले अव्यावृत्तको श्रीकृष्णका भजन पूजा-श्रवणादि द्वारा करना चाहिये”, “<sup>४</sup>भगवान्‌ जब गोचारणार्थ वृन्दावन पधारते तब जैसा दुःख यशोदाको... गोकुलमें... वैसा दुःख सेवाके अनवसरमें मुझे कब होगा... गोचारणके बाद पुनः घर लौटनेपर जैसा सुख गोकुलमें... होता था वैसा सेवाके अवसरमें मुझे कब भगवान्‌ प्रदान करेंगे... भगवान्‌के मथुरा पधार जानेपर उनके वियोगमें

उद्धवजीके व्रज आनेपर भगवत्कथामें जैसा उत्सव हुवा वैसा उत्सव वियोगमें भगवत्कथा सुनते समय मेरे मनमें कब अनुभूत होगा”, “परिवारमें कलत्र-पुत्र आदिके अनुकूल होनेपर उनसे भी भगवत्सेवा करायी जा सकती है. उनके उदासीन होनेपर स्वयं करनी चाहिये. उनके, परन्तु, प्रतिकूल होनेपर उनका त्याग किया जा सकता है”, “अपना धर्म तो यही है... वैसे प्रभु सर्वसमर्थ हैं अतः अपनेको निश्चिन्त हो कर सेवा करनी चाहिये... यदि श्रीगोकुलाधीशको कोई अपने हृदयमें कोई यों धारण कर पाता हो तो उससे अधिक श्रेष्ठ क्या हो सकता है... अतः किसी भी स्थितिमें भगवान्के स्मरण और भजन छोड़ने नहीं चाहिये”.

(कारि.२, न.प्र.कारि.२, कारि.३, कारि.१-३, १-४).

इस तरहके कण्ठोक्त निर्देशोंद्वारा महाप्रभु और प्रभुचरण ने सेवोपदेश दिया है. अतः भगवत्सेवा तो अपने तनुसे और अपने वित्तसे ही करनी चाहिये. अतः स्वयं या अन्य किसी ने सेव्यस्वरूपको निवेदन/समर्पण बजाय दान/भेंटके रूपमें कुछ द्रव्य या सेवोपयोगी सामग्री दी हो उसे पुनः अपने उपभोगमें नहीं लेनी चाहिये. सेवाके स्वतनुवित्तजा रूपको निभानेके लिये स्वयं जो समर्पित किया हो उसका ही पुनर्ग्रहण अनुमत होता है. वस्तुके भगवत्सेवार्थ समर्पित होनेपर भगवत्प्रसादके रूपमें अपने उपभोगार्थ उन्हें लिया जा सकता है. भगवत्सेवा स्वयं अपने घरमें करनी चाहिये अन्यत्र नहीं. यह भी “जो स्वामी होता है वह तो अपने घर ही में रहता है अन्यत्र नहीं. अतः यदि हमारे घरमें भगवान् बिराजते न हों तो फिर भगवान्को हमारे स्वामी कैसे माना जा सकेगा” (सुबो.१०।३८।१२). व्रजके भक्तजनोंके जो-जैसे भाव थे वैसी भावना करते हुवे अपने सेव्यस्वरूपकी सेवा करनी चाहिये. अपने अनुकूल परिवारजनोंके साथ करनी चाहिये, अन्य दर्शनार्थी जनोंके समक्ष या उनके आर्थिक सहयोग के द्वारा नहीं. भगवत्सेवा भी स्वयं उस सेवासे अतिरिक्त धर्म अर्थ काम या मोक्ष पुरुषार्थको प्रमुख मान उनके अंगरूपेण नहीं. वह तो पांचवें पुरुषार्थके रूपमें करनी चाहिये. इस तरहकी महत्त्वपूर्ण इतिकर्तव्यता उपदिष्ट हैं.

भगवत्सेवाके ये निर्देश श्रीमदाचार्यचरणके अनुग्रह बिना मूढ़ जनोंकी मतिमें आरूढ़ हो नहीं पाते. यह हम देख सकते हैं कि “‘उत्सर्ग’ यानि दान ; अर्थात् स्वेच्छया किया गया त्याग. तदनुसार जीवात्मा जब समर्पण करती है तब वह सम्पन्न

होता है. अतः उत्सर्ग भगवान्के अनुग्रहसे ही शक्य हो पाता है” ऐसा अनर्गल प्रलाप भगवदनुग्रहवश नहीं परन्तु श्रीमद्वल्लभकी वाक्सुधासागरकी गंभीरताको समझ पाये ऐसी मतिसे विरहित, उसके तटपर वानरकी तरह उछलकूद करनेमें ही जो अपना पुरुषार्थ मान बैठा हो और किसी कविजनको ही रुचनेवाली स्वच्छन्द कल्पना करनेमें जो कुशल हो, ऐसे किसीका काम हो सकता है ! क्योंकि श्रीपुरुषोत्तमचरण ही जब-

“दान यानि अपने स्वत्वका परित्याग कर दूसरेका स्वत्व उत्पन्न करनेवाले ‘तुम्हें यह दे रहा हूं अब यह मेरा नहीं रहा’ आदि शब्दोंमें जिसे अभिव्यक्त किया जा सके ऐसा मनोव्यापार होता है. ऐसा करनेपर निश्चित ही स्वयं अपन दत्त वस्तुका पुनर्ग्रहण नहीं कर सकते, दत्तापहार दोष लगता होनेसे. निवेदनमें, जबकि, केवल तदीय होनेका अनुसन्धान रखा जाता होनेसे वस्तुका त्याग नहीं परन्तु उसपर अपने अभिमानका त्याग ही अपेक्षित होता है कि ‘यह तुम्हें समर्पित/निवेदित कर रहा हूं’ यह एक पूर्वोक्त मनोव्यापारसे विलक्षण मनोव्यापार है. इसके किये जानेपर दी हुयी वस्तुका पुनः उपयोग दाता भी करे तो कोई दत्तापहार दोषकी बात नहीं होती”.

(नवरत्नप्रका.१)

यहां दान और समर्पण के बीच जो अन्तर है वह तो बराबर समझा ही दिया गया है. फिरभी उत्सर्गको दान मानना और दानको समर्पण मानना, निरी मूढ़ता या महासाहसिकता या फिर दोनों ही प्रकट करना है.

इसी तरह अन्य भी कुछ लोग अगड़म-बगड़म कुछ सोचते रहते हैं कि “भगवान्ने यह तीनों लोक अपनी क्रीड़ाके लिये प्रकट किये परन्तु कुत्सित बुद्धिवाले लोग उस जगत्में अपने स्वत्व या स्वामित्व का दावा करने लगते हैं” (भाग.पुरा.८।२२।२०) ऐसा कहा गया होनेसे स्वत्वाभिमान या स्वामित्वाभिमान रखे बिना कोई अपने तनुसे या अपने ही वित्तसे सेवाका दुराग्रह कैसे रख सकता है ! अतः अपने तनुवित्तसे ही सेवा करनेकी हठ कुत्सित बुद्धिका परिणाम होनेसे आविद्यक अहन्ता-ममता है. अतः उसका त्याग कर सब कुछ भगवत्स्वामिक है ऐसा अनुसन्धान करनेसे आत्मनिवेदनकी भावनाद्वारा भी ऐसी हठ विरुद्ध है.



अतः अपने या दूसरे जिस-किसी भगवत्सेवाके दर्शनार्थी भक्तके तनुवित्तके विनियोग करनेपर भी कुछ भी दोषरूप नहीं होता.

यह तो हर किसी उपायसे लाभपूजा उपार्जित करनेकी कामनावालोंने घड़ काढ़ा भगवत्सेवाका अकाण्डताण्डव ही केवल है ! क्योंकि “श्रीकृष्णसेवाका स्वरूप यही है यह कह रहे हैं ‘चित्तका श्रीकृष्णमें प्रवण हो जाना सेवा है और वह प्रवण होगा जब अपने तनु-वित्तद्वारा उसकी सेवा की जाये’ उक्त सेवाके साधन अन्य भी कुछ हो सकते हैं ‘वह...’ इस अंशसे कहा जाता है. प्रथम दूसरे किसीको वित्त दे कर उससे करायी जाती सेवा; और, द्वितीय इस तरह दूसरेका वित्त ले कर की जानेवाली सेवा. ऐसी दोनों तरहकी सेवा करनेसे चित्त कभी श्रीकृष्णमें प्रवण नहीं हो पाता, यह जतानेको समस्त ‘तनुवित्तजा’ पदका प्रयोग किया गया है. अतः भगवान्के लिये स्वसर्वस्वका निरुपधि निवेदन कर देनेके बाद वहीं स्वदेहका भी विनियोग प्रेमपूर्वक करनेपर चित्त श्रीकृष्णप्रवण हो पाता है” (सि.मु.प्र.२) इस वचनमें अहन्ता-ममताके द्योतक ‘स्व’पदका कितनी बार प्रयोग प्रभुचरणने किया वह क्या पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवकोंकी बुद्धिको कुत्सित बनानेको ? अपने संप्रदायमें ऐसा विचारनेवालेको धिक्कार ! अतः जो पुरुषोत्तमजी कह रहे हैं कि “वस्तुतः तो सभी कुछ भगवदीय है तो भी... रमणार्थ भगवान्ने अपने-आपमेंसे द्वितीयका निर्माण किया होनेसे उस द्वैतके कारण तत्तत् पदार्थोंमें जो जीवात्माको स्वत्व और स्वीयत्व का अभिमान होता है, केवल उस अभिमानको त्याग कर “सभी कुछ भगवदीय है” ऐसी भावना निवेदन कहलाता है” (सि.र.वि.२). भगवान्को स्वामी न माननेके मनोभावके साथ किसी व्यक्ति या वस्तु के बारेमें स्वत्व या स्वीयत्व का रखा जाता अभिमान त्याग करने लायक होता है. नकि भगवान्को स्वामी मान कर अपने सेवकको भगवत्प्रदत्त वस्तु या व्यक्ति के बारेमें स्वत्व या स्वीयत्व की अभिमति को हेय माननेकी कोई आवश्यकता है. अन्यथा एक-दूसरेकी पत्नियोंमें भी ममता त्याग कर देनेपर दाम्पत्यकी व्यवस्था समाप्त हो जायेगी. फिर तो यह ब्रह्माद्वयका ज्ञान या आदर्श धर्म केवल स्वैरी और स्वैरिणी के लिये ही उपयुक्त रह जायेगा ! सर्वत्र भगवदीयत्वका अनुसन्धान उन्हींके लिये वरदानरूप हो सकता.

कुछ मूढ़ लोग ऐसा भी प्रलाप करते हैं कि जो प्रभुचरणने जो “ऐसी दो प्रकारकी तनुजा और वित्तजा सेवा चित्तको श्रीकृष्णप्रवण बनानेकी साधिका नहीं

बनती” यह निषेध दूसरोंके तनुवित्तसे करायी गयी सेवा साधिका नहीं बनती, इतना मात्र जतानेको किया है. नकि दूसरेके तनु या वित्त मानसी सेवाके साधन नहीं होते, ऐसा सिद्धान्त जतानेको. अतः दूसरे किसीको वित्त दे कर करायी गयी वित्तजा सेवा और इसी तरह दूसरेका वित्त ले कर की गयी तनुजा सेवा भी भगवत्सेवा होनेसे मानससेवाकी साधन तो होती हैं चाहे साधिका न भी होती हों.

ऐसी अतिमानुषी बुद्धिके प्रदर्शनके बारेमें क्या कहा जा सकता है ! क्योंकि ‘साधन’ का अर्थ तब क्या माना <sup>क</sup>हेतु या <sup>ख</sup>करण ? यदि हेतु मानें तो वह भी <sup>क</sup>/ <sup>ख</sup>ज्ञापकहेतु या <sup>क</sup>/<sup>ख</sup>कारकहेतु ? इनमें <sup>क</sup>/<sup>ख</sup>ज्ञापकहेतु तो स्वीकारा नहीं जा सकता, क्योंकि सिद्धान्तमुक्तावलीमें सेवा करनेका उपदेश दिया जा रहा है. नकि मानससेवाके बारेमें यहां कोई अनुमिति की जा रही है कि “कृष्णसेवा सदा अनुमेया” . सो यह क्रियारूपा सेवाका उपदेश है. <sup>क</sup>/<sup>ख</sup>कारकहेतु भी स्वीकारा नहीं जा सकता, विकल्पोंके सामने टिक न पाता होनेसे. क्योंकि कारक होना क्या साक्षात् साधन होना मानना या परम्परया साधन होना ? साक्षात् साधन होना तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह तो साधक होनेका ही दूसरा नाम है. जैसाकि “साधकतमं करणम्” (पाणि.सू.१.४.४२) सूत्रमें ‘तमप्’प्रत्ययका अर्थ प्रकृष्टतया उपकारक होना माना गया है. इस प्रकृष्टोपकारकी परिभाषा “क्रियाकी अव्यवहित फलनिष्पत्ति जिसके व्यापारके बाद कहनी अभिप्रेत हो उसे ‘करण’ कहा जाता है” (सि.कौ.त.बो.१.४.४२) इसके अनुसार करण और साक्षात् साधक के बीच अन्तर रह नहीं जाता. तब तो “चित्तकी श्रीकृष्णप्रवणताकी सिद्धिके लिये तनुवित्तजा करनी चाहिये” इस विधानमें तनुवित्तजाका करण होना सिद्ध होगा. करण होना यानि मानसी सेवामें प्रकृष्टोपकारक होना सिद्ध होगा. इससे <sup>ख</sup>करण होनेके विकल्पका भी निरास हो जाता है.

अतः अब रह जाती है परम्परया जो साधन हो उसकी चिन्ता. इस बारेमें भी विचारना चाहिये कि स्वमार्गीय गुरुस्थानीय गोस्वामिओंद्वारा अनुष्ठित स्वगृहाधिष्ठित सेव्य प्रभुकी पराये तनसे करायी गयी सेवा या पराये धनसे करायी गयी सेवा यदि फलनिष्पत्तिमें प्रकृष्ट उपकारक न होती हो तो केवल परम्परया उपकारक हाती हो तो ऐसी सेवा आखिर वे करते क्यों हैं ? प्रकृष्टोपकारक अपने तन और अपने धन से की जाती सेवामें उन्हें क्या न्यूनता अखरती है कि परम्परया उपकारिणी सेवा

करते हैं? यदि धनोपार्जनकी कामना पूरी करनेको तो सभी गोस्वामी देवलक सिद्ध होंगे. यही बात लोकमें अपने भजनकर्ता होनेकी कीर्तिकी कामनाके बारेमें भी लागू पड़ेगी कि सेवा फलरूप नहीं रह जायेगी. यदि अनुगामी वैष्णवजनोंको भगवत्सेवाका बोध प्रदान करनेके लिये तो वह भी उनका धन लिये बिना शक्य होनेसे, उसे पराये धन लिये बिना भी की जा सकती है. यदि प्रदर्शनद्वारा जनताके उद्धारकी बात कही जाये तो वह भी जनतासे भगवत्सेवार्थ धन लिये बिना शक्य होनेसे प्रामाणिक नहीं लगती.

इसके अलावा अपने मार्गके अनुगामिओंद्वारा उनके घरमें की जाती कृष्णसेवामें गोस्वामी महानुभाव क्यों मुख्य परिचारक बन कर तनुजा सेवा और मुख्य दर्शनार्थी बन कर मनोरथार्थ धन क्यों नहीं देते? उद्धारकी हार्दिक कामना हो तो यह उपायान्तर भी शक्य है.

यदि गोस्वामिओंकी द्वारभूतता अनिवार्य मानते हैं तो अपने शिष्योंकी सेवा मानसी सेवाके रूपमें कैसे खिल पायेगी! आधुनिक गोस्वामी न भी करते हों परन्तु पूर्वमें आचार्यचरण या प्रभुचरण ने ८४ या २५२ सेवकोंके मांथे बिराजते ठाकुरजीकी सेवा क्यों नहीं की? क्यों उनकी सेवाके हेतु उन्हें धन प्रदान नहीं किया? जैसे पराये धनको आज वल्लभवंशज गोस्वामी समर्पण मानते हैं वैसे ही गोस्वामिओंका धन भी वैष्णवोंके घरमें बिराजते प्रभुके लिये समर्पण ही माना जाना चाहिये था. क्यों ऐसा नहीं करते वैष्णवोंके उद्धारकी कामनावश उनके ठाकुरजीकी सेवाको नेग-भोग-रागसे समृद्ध क्यों नहीं बनाते? ऐसी सेवाके कारण यदि सचमुच ही सेव्यसुख समधिक होता हो तो? यह पूछना चाहिये काव्यकल्पनद्वारा सिद्धान्तकी कल्पना करनेवाले देवपशुओंसे!

ऐसे ही श्रीमद्गोपीनाथ प्रभुचरणने “स्वीय भक्तोंको दर्शन कराने” (सा.दी.१०८) ऐसी जो छूट दी है, उसमें ‘स्वीय’ पद अपने सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शनके अधिकारीके विशेषणतया योजित किया है. इसमें भी अभिप्रेत तो यही लगता है कि अभक्त स्वीयोंके समक्ष अथवा भक्त अस्वीयोंके समक्ष अपने सेव्य भगवत्स्वरूप या उनकी सेवाका प्रदर्शन नहीं करना चाहिये.

यहां एक शंका ऐसी उठायी जाती है कि “स्वयंके जन्म या कर्म या वर्ण या आश्रम अथवा जाति के कारण जिसका अपने देहमें अहम्भाव न हो... धन या आत्मा के बारेमें जिसे स्व-परका भेद भासित न होता हो... वह भागवतोत्तम होता है” (भाग.पुरा.११।२।५१-५२). भागवतोत्तमका स्वरूप ऐसा समझाया गया होनेसे, इसी तरह “यह निज है और यह पराया है, ऐसी गणना ओछे चित्तवाले करते रहते हैं. उदारचरित्वालोंके लिये तो सारी वसुधा ही एक कुटुंबकी तरह होती है” ऐसा सुभाषित भी कहा जाता होनेसे सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि रखते हुवे भगवदीयताका अनुसन्धानके साथ समारब्ध सेवामें बीचमें ही यह स्वतनु/परतनु एवं स्ववित्त/परवित्त का कलह क्या एक व्यामोहको उभारना नहीं? कुछको स्वकीय मानना और अन्यको परकीय, एकको भगवदीय मानना दूसरेको नहीं. क्या यह विरोधाभास नहीं है? उत्तररूपेण यह कहना पड़ेगा कि यह आपत्ति करनेवाला पराये धनको पानेकी कामनाके वश ऐसी आपत्ति कर रहा है या धनकामना रखे बिना? यदि धनकामनाके वश ऐसा ब्रह्मज्ञान सूझ रहा हो तो महाप्रभुका भी एक सुवचन अनुसन्धेय है “‘कृष्ण’ शब्द दुष्टपुरुषके मुखसे निकलनेपर मलिन बन कर किसी मलिन अर्थका ही वाचक होता है, भगवान्का नहीं” (सुबो.१०।७१।३२). इसी न्यायके अनुसार यह ब्रह्माद्वयका ज्ञान भी मलिन धनकामनाको प्रकट करनेवाली शब्दावलीमें प्रकट हुवा होनेसे मलिन ही होगा. इस मनोवृत्तिद्वारा भगवदीयता नहीं खोजी जा रही प्रत्युत परधनके अपहरणार्थ धनिकता ही.

अस्तु. यहां यह और एक स्पष्ट करने लायक बात है कि किसे दर्शन कराने इस बारेमें यदि यथोपदिष्ट रीति मान्य न हो तो किसे दर्शन कराने इस बारेमें कैसी व्यवस्था अभिप्रेत है, यह दिखलानी पड़ेगी. क्या अपने सेव्य भगवत्स्वरूपका प्रदर्शन अस्वीय भक्तोंको भी कराया जा सकता है? अथवा स्वीय अभक्तोंके समक्ष भी प्रदर्शन अभिप्रेत है? प्रथम कल्पमें उन भक्तोंको अपना बनाने या मानने के लिये अथवा उनका भक्तके रूपमें आदर करनेके लिये? उन्हें अपना बनाने या मानने के प्रयोजनवश अपने सेव्य भगवत्स्वरूपकी सेवाके दर्शन करानेकी बात तो जंचती नहीं है, क्योंकि दर्शन करने आनेवाले कतिपय लोगोंको अपना बनाने या मानने से पहले उन्हें पराया मानना पड़ेगा सो ब्रह्माद्वयका तथा सभीके भगवदीय होनेका भाव पहले ही खण्डित हो गया! सो पुनः ओछे चित्त होनेकी प्रतीति होगी. घर आये जिस किसीके बारेमें ब्रह्माद्वयके बोध और भगवदीय होनेका भाव

रख कर दर्शनद्वारा उनका आदर करनेकी बात भी अनावश्यक है. क्योंकि उनके अभिमुख अभिगमन अभिवन्दन स्वगृहानयन पादप्रक्षालन आदि अनेकविध उपायोंद्वारा वह शक्य हो तो फिर अपने सेव्यका प्रदर्शन नियततया एकमात्र उपाय माना नहीं जा सकता.

तब बच जाता है स्वीय जन अभक्त हों तब भी उन्हें अपने ठाकुरजीके दर्शन करानेका कल्प. इसमें, परन्तु, प्रयोजनकी जिज्ञासा करनेपर भक्तिके बीजभावको प्रकट करना अथवा उसे दृढ़ करना, क्या मानना ? इसे सेवाका प्रमुख प्रयोजन मानना या आनुषंगिक प्रयोजन स्वीकारना ? जिन्हें दर्शन कराने हैं उनके अभक्त होनेके बावजूद पुष्टिजीव होनेके निश्चयके साथ या वैसी कोई चिन्ता करे बिना सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि रखते हुवे सभीके भगवदीय होनेके निश्चयपूर्वक ?

इस सन्दर्भमें अवधेय है कि भक्तिका बीजभाव ही प्रकट करना हो तो वह सत्संग आदिसे भी शक्य होनेसे वह अन्यथा उपपन्न हो जाता है. इसी तरह उसे दृढ़ करना प्रयोजन हो तो वह भी उसे दृढ़ करनेके साधन श्रीमदाचार्यचरणने भक्तिवर्धिनीमें “बीजभावको दृढ़ करना हो तो घरमें रह कर पूजा और श्रवण आदि करते हुवे श्रीकृष्णको भजना चाहिये” ( भ.व.२ ) ऐसे अन्य ही उपाय दिखलाये हैं. अपने स्वीय अभक्तोंके समक्ष अपने सेव्यप्रभुके प्रदर्शनका प्रमुख प्रयोजन उनमें बीजभावको प्रकट करना या दृढ़ बनाना हो तो सेवा फलरूप नहीं रह जायेगी. अतः आनुषंगिक प्रयोजन केवल स्वीय अभक्तोंके प्रति मानते हैं तो पुनः ओछे मनवाले होनेका आरोप लग जायेगा. कुछ लोग सोचते हैं कि “भूतलपर भक्तिके प्रचारार्थ ही महाप्रभुने अपने वंशका प्रवर्तन किया” ( सर्वो.स्तो.२२ ) इस नामवाले आचार्यके वंशज होना सार्थक बनानेके लिये और न जाने कौन सा जीव पुष्टिजीव हो सो, उसे भक्त बनानेको ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा और सेवाप्रदर्शन सेवामें रुचि बढ़ानेको आवश्यक मानते हैं. क्योंकि न्यायप्रणालीमें सौ अपराधिओंका दण्ड पानेसे बच जाना उतना बुरा नहीं होता जितना एक निरपराधीका दण्डित हो जाना ! , इस नीतिके अनुसार सभीको या कमसे कम स्वीय अभक्तको तो दर्शन कराना आवश्यक मानते हैं.

शिष्यैषणाकी दुर्दम अचिकित्स्य वेदनासे पीड़ित गुरुओंसे बचनेके लिये इसका

समाधान जान रखना आवश्यक है ! क्योंकि श्रीमद्गोपीनाथप्रभुचरणने “भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान प्राप्त करनेको भगवान्के गुणकर्मोंका श्रवण आवश्यक होता है तथा एतदर्थ शास्त्रोपदेशक गुरुकी अपेक्षा भी रहती ही है” ( सा.दी.९ ) ऐसे प्रतिपादनद्वारा शास्त्रोपदेशको भूतलपर भक्तिके प्रचारार्थ उपयोगी माना है; नकि, निज सेव्यभगवत्स्वरूप या उनकी सेवा का प्रदर्शन. अब ऐसे कहा जाये कि कौन प्रवाही जीव है या कौन मर्यादाजीव या कौन पुष्टिजीव इस बारेमें चिन्ता व्यर्थ होनेसे सभीमें ब्रह्मबुद्धिवशात् प्रकट होनेवाली भगवदीयताकी धारणा रख कर कोई अभक्त हो तब भी भविष्यमें भक्त बन जायेगा, ऐसी शुभभावना रख कर सभी जीवोंके सामने प्रदर्शन किया जाना चाहिये. ऐसा माननेपर तो इसी ब्रह्माद्वयबुद्धिके वशात् पुष्टिमर्यादाप्रवाहका विभेद मानना ही बंद कर देना पड़ेगा. क्योंकि व्यवहारमें वह अपेक्षित नहीं रह जाता.

पूछा जा सकता है कि ऐसी स्थितिमें सर्वत्र ब्रह्मके तादात्म्यबुद्धिके अनुरोधवश समारब्ध पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाकर्मको भी तब अनुपपन्न मानना पड़ेगा. अरे भाई ! थोड़ा सा संयम अपनी धनलालसापर प्रकट कर यह क्यों नहीं सोचते कि हमें तो महाप्रभु और प्रभुचरण के उपदेशोंका अनुसरण करना है. क्या उचित है या क्या अनुचित, इसे अपने स्वार्थाभिप्रेत तात्पर्यवश निर्धारित नहीं करना है. सुनो कि स्वमार्गारहस्य वे क्या बताना चाहते हैं ! द्रव्याद्वैतके सोपानपर आरोहण किये बिना जैसे क्रियाद्वैतका अनुवर्तन पाषण्डैकपर्यवसायी बन जाता है. वैसे ही इन दोनों सोपानोंपर आरोहण किये बिना भावाद्वैतका अनुवर्तन भी लौकिक विषयोंमें पाषण्डैकपर्यवसायी बन जाता है. ऐसा मत सोचो कि ऐसी स्थितिमें पुष्टिमार्गीय पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार भी शास्त्रोंमें विहित न होनेके कारण पाषण्डैकपर्यवसायी हो जायेगा. पुष्टिमार्ग सभी शास्त्रप्रमाणोंके अविरोधसे प्रकट किया गया हमारे आचार्यचरणोंने अपनी वाणीद्वारा प्रकट किया मार्ग है. जैसेकि -

“मैं सभी आत्माओंकी भी आत्मा हूं... सभी प्रेमास्पदोंमें परमप्रेमास्पद हूं. अतः मेरेमें अपना प्रेम जगाओ क्योंकि देह आदि भी मेरे ही कारण प्रिय लगते हैं.”

( भाग.पुरा.३।९।४२ ).

“काम क्रोध भय स्नेह ऐक्य अथवा सौहृद जो भी भाव हमारा श्रीहरिमें

दृढ़ बंध जाये तो हम तन्मय हो पायेंगे.”

( भाग.पुरा.१०।२६।१५ ).

“श्रीकृष्णके अवतारमें तो रागद्वेष भी मोक्षके साधक बन जाते हैं...  
अतः कृष्णावतारमें कोई भी भगवद्भक्त मोक्षदायक हो सकता है.”

( सुबो.१०।८७।४७ ).

“भगवान् सभी जीवात्माओंके भीतर बिराजमान परमात्मा, परमप्रिय और परमेश्वर भी होते हैं. अतः उनपर आश्रित जनोंको क्या कुछ नहीं देते ?  
अतः भगवान् जो कुछ देते हैं उसे जाननेवाला साक्षात् भगवान्को छोड़ कर अन्य किसी देवतान्तरको क्षुद्र ऐश्वर्य आदिकी कामना रख कर क्यों भजना चाहेगा ! भगवान्की चरणरजका सेवन करनेवालेको क्या कुछ नहीं मिल जाता कि उसे भूल कर दूसरे किसीके भजनकी अपेक्षा रह जाये ! ब्रह्माजीकी आयुष्य पा लेनेपर भी भगवान्ने जो उपकार किये हैं उसका प्रत्युपकार शक्य नहीं, यदि कोई उन्हें भलीभांति समझ पाये या याद रख पाये. क्योंकि भगवान् सभी देहधारियोंके बाह्य आधिदैहिक तथा आभ्यन्तर आध्यात्मिक अशुभोंको बाहर निजधर्मोपदेशक आचार्यके रूपमें और भीतर जीवात्माके चिदंशके भीतर बिराजमान आनन्दांश अन्तर्यामी बुद्धिप्रेरक परमात्मा परमेश्वर के रूपमें धो कर निर्मल बना देते हैं.”

( भाग.पुरा.११।२९।५-६ ).

अतः द्रव्याद्वैत और क्रियाद्वैत के पहले भी अपवादरूपेण भगवन्मूर्तिमें भावाद्वैतमूलक पुरुषोत्तमप्रतिष्ठापन निर्दुष्ट मानना चाहिये. एतावता सर्वत्र उसकी क्रियान्विति या भावान्विति आत्मकल्याणके लिये उल्लिखित उभयविध अद्वैतोंके चित्तरूढ़ होनेसे पूर्व प्रामाणिक मानी नहीं जा सकती. अतएव यथोपदेश भगवत्सेवाके अंगभूत समर्पणमें कहीं तादात्म्यघटक द्वैतमूलक सदसद्विवेक अपेक्षित होता है, जैसाकि कर्मेन्द्रियोंकी विषयीभूत त्याग ग्रहण या उपेक्षा रूपिणी क्रियाओंमें. इसी तरह ज्ञानेन्द्रियोंके विषयीभूत रूपरसगन्धादि विषयोंमें शास्त्रकी विधिके अनुसार सदसद्विवेक अपेक्षित होता है. इसी तरह “पुरुषोत्तम”के प्रति और उसके आधीन रहनेवाले भगवदीय<sup>१०५</sup>, अज्ञानी<sup>१०६</sup> या द्वेषकर्ता<sup>१०७</sup> पुरुषोंके प्रति जो यथाक्रम प्रेम<sup>१०८</sup> मैत्री<sup>१०९</sup> कृपा<sup>११०</sup> या उपेक्षा<sup>१११</sup> के भाव रखता है” इस कारिकाकी व्याख्यामें आचार्यचरण कहते हैं कि “स्वयं शास्त्रमें ही तरतमभाव रख कर अनेकविध ज्ञानोंका निरूपण किया गया है” ( सुबो.११।२।४६ ). अतः उपदेशके अनुसार कहीं द्वैत कहीं

अद्वैत के दर्शनकी वृत्ति रखनी चाहिये नकि स्वैरवृत्तिवश.

यहां यह एक शंका होती है कि कर्म तो कोई चाहने या न चाहने पर या अन्यथा चाहनेपर करेगा या नहीं करेगा या अन्यथा भी कर सकता है, अपनी इच्छाके अनुसार. ज्ञान या दर्शन तो पुरुषकी इच्छाके आधीन नहीं होते, विषयवस्तुके आधीन ही अनुभूत होते हैं. फिर कहीं-कभी द्वैत तो कहीं-कभी अद्वैत के दर्शनकी बात युक्तियुक्त नहीं लगती. इस विषयमें समाधान यही है कि न तो सारी क्रियाएं पुरुषकी इच्छाके आधीन ही प्रकट हैं; क्योंकि, श्वासोच्छ्वास खांसी अंगकम्पन पक्षमस्फुरण या बाहुस्फुरण जैसी बहुत सी क्रिया पुरुषके न चाहनेपर भी शरीरमें प्रकट होती रहती हैं. रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द आदि इन्द्रियोंके बहुविध विषय समान कालमें तत्तद् इन्द्रियोंसे संनिकृष्ट होनेपर भी पुरुषकी इच्छाके वश किसी विषयविशेषका ग्रहण, तो उपेक्षित इतर विषयका अग्रहण भी, होता देखा जाता है. उदाहरणतया मुखके चक्षुःसंनिकृष्ट रहनेपर भी मुखमें पुरुषकी इच्छाके कारण यदि मुखस्थ नेत्र देखनेकी इच्छा हो वे दिखलायी देते हैं. तब नाक या कान केश दिखलायी नहीं देते. यदि चिबुक या अधरोष्ठों को देखनेकी इच्छा हो तो नेत्र या कपाल दिखलायी नहीं देंगे.

अतः सिद्ध हो जाता है कि पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा कर्ममें पुरुषसूक्तके अनुसार ब्रह्म और मूर्ति के बीच रहे तादात्म्यके घटक अद्वैतका दर्शन कर्तव्यरूप होता है. उस समय भगवन्मूर्तिके बजाय अन्यत्र किसी पशु-पक्षी-दैत्य-दानवकी मूर्तिमें रहा भजनार्थ ब्रह्माद्वैत देखना आवश्यक नहीं. अतः उनके पूजनकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है. इस तरह प्रतिष्ठापित भगवन्मूर्तिके भजनमें पुनः भजनीय भगवान् और भजनकर्ता के बीच रहे द्वैतका दर्शन करना यदि कोई बंद कर दे तो प्रतिष्ठाकर्म स्वयं निरर्थक सिद्ध हो जायेगा. इसी तरह भजनोपयोगी धन या सामग्री के सम्पादनमें ब्रह्मतादात्म्यके घटक द्वैतपर अवलम्बित होनेवाले अपने या पराये द्रव्यका अन्तर उपयोगी होता है. अतः अपने द्रव्यसे ही भगवदाराधनाका आग्रह धर्म्य माना गया है जबकि पराये धनसे किया जाता धर्मानुष्ठान धनोपार्जनका एक छद्म भी हो सकता है. अतः अपने धनसे की गयी सेवामें उपयुक्त सामग्रीका प्रसादके रूपमें पुनर्ग्रहण प्रशस्त माना गया है. जो न तो स्वयं सेवाकर्ताने या न उसके साथ रहनेवाले उसके पारिवारिक जनोंके धनसे कोई सामग्री भगवान्को

निवेदित की गयी हो उसे निवेदित या समर्पित मान कर अपने उपभोगमें लेनेसे सेवा भक्तिमयी आराधना न रह कर आजीविका अर्जित करनेका पाषण्डपूर्ण छलावा बन जाती है. अतः प्रथम तो उनका सेवामें विनियोग ही नहीं करना चाहिये और किया हो तो स्वयं उपभोग नहीं करना चाहिये. ऐसी सावधानी रखनेपर भक्ति पुष्टिभक्ति रह पाती है अन्यथा तो उदरपोषणार्थ आजीविका ही. अतः आधुनिक वित्तैकचित्त आचार्यवंशजोंके भगवत्सेवाछलके बारेमें अधिक कुछ चिन्तन न करना ही उपयुक्त है !

यही बात महाप्रभुने भी अतएव समझायी है -

“निर्गुण भक्तियोगका लक्षण... जो हमारी भगवान्के बारेमें अहैतुकी भक्ति हो... यह भक्ति प्रेमके साथ की जाती सेवा है. ‘हेतु’=फलानुसन्धान उससे रहित हो जो सेवा हो वह ‘अहैतुकी’=अनिमित्ता होती है. ऐसा कह कर सगुणा भक्तिका वारण कर दिया... भक्ति करनेको अतः चोरी डकेती ठगी करके सेवासामग्री जुटाना अच्छी बात नहीं है.”

“जो ब्रह्मानन्दमें प्रविष्ट हो जाते हैं उनमें भक्तिका विलास प्रकट नहीं होता... ब्रह्मानन्दमें भजनीय और भक्त दोनों ही अव्यक्त बन जाते हैं. जलमें डूब जानेवालेको जलपानका सुख व्यक्त नहीं रह जाता. अनुभवका रस अतः भिन्नतया स्थित होनेपर ही मिलता है.”

“असत्संग कभी नहीं करना चाहिये वह भक्तिमार्गमें बाधक हो जाता है.”

(सुबो.३।२९।१२, १०।२६।३९, १०।८४।२२)

यहां प्रथम वचनमें ब्रह्मस्वरूपके अनुरोधवश अभेदकी प्रधानता दरसा कर अहैतुकी अव्यवहिता भक्तिको निर्गुणा-भक्तिके रूपमें हमारे आचार्यचरणने स्वीकारा है. इसके विपरीत जीव और ईश्वर के बीच ऐच्छिक भेदको प्रधान मान कर उसपर अवलम्बित होनेवाली भक्ति सगुणा या सहैतुकी भक्ति मानी गयी है. इस प्रकारकी भक्तिके हेतु भजनीय स्वरूपका वरण और तदर्थ ब्रह्म और जगत् के बीच अभेदमूलक यह पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाका कर्म है. अतः जिस भगवन्मूर्तिको हम प्रतिष्ठापित करना चाहते हों उस भगवन्मूर्ति और साक्षाद् भगवान् के बीच

अभेद मानना चाहिये. बादमें क्योंकि वह मूर्ति हमारे भगवान्के बारेमें भक्तिभावका आलम्बनविभाव बन जाती है. अतः उसके साथ अपना भी तादात्म्य स्वीकारना पुष्टिभक्तिकी अनिवार्यता है. द्वितीय वचनमें वैसी निर्गुणा भक्ति अपने हृदयमें पूर्णतया खिल पाये तो जिस भगवत्सेवाका अनुष्ठान किया जाना है उसके हेतु सर्वत्र ब्रह्मदर्शनानुरोधी ब्रह्मानन्दकी प्रधानताके बजाय अपना भजनीय जो भगवत्स्वरूप है उसके भजनानन्दका ही ऐच्छिक द्वैतमूलक प्राधान्य माना गया है. इसी तरह तृतीय वचनमें उस तरह प्रादुर्भूत हुयी भक्तिके पोषक सत्संगके हेतु पुरुषोंमें सदसद्विवेक भी आवश्यक माना गया है.

इस तरहकी भक्तिके बारेमें स्वारूढ शाखोच्छेदनकी मूढताका आरोप किन्हीं लोगोंकी बुद्धिमें उभरता है. जिस शाखापर, किन्तु, भक्ति आरूढ़ हुयी है वह शाखा न तो ऐकान्तिक अद्वैतवृक्षकी है और न ऐकान्तिक द्वैतवृक्षकी ही. वह शाखा तो है भेदसहिष्णु-अभेदरूप तादात्म्यतरुकी ही. अतः ऐसे आरोपमें विचारणीय कुछ भी नहीं रह जाता है. अतएव “वह तुम हो” (छान्दो.उप.६।८।७) इस वचनमें ‘त्वं=तुम’ पदसे वाच्य जीवकी ही ‘तत्=वह’ पदसे वाच्य ब्रह्मात्मकता ‘असि=हो’ क्रियापदद्वारा बोधित होती है. नकि ‘वह’ पदसे वाच्य ब्रह्मकी जीवात्मकता. ब्रह्म स्वयं जीवभावापन्न हुवा होनेपर भी जीवोंसे व्यतिरिक्त भी होता है. अतः यहां कुछ भी अनुपपन्न नहीं. अतएव श्रुतिमें भी ‘तत्’ पदार्थको उद्देश्य बना कर ‘त्वं’ पदार्थसे उसका अभेद ‘है=अस्ति’ क्रियापदसे द्योतित नहीं हुवा है. जैन-बौद्ध मतोंकी तरह जीव ब्रह्म नहीं बनता उपनिषदोंके अनुसार ब्रह्म ही जड़-जीव बना है.

५. “गुरुकी आज्ञाके अनुसार भगवत्सेवा करनी चाहिये” ऐसा कहा गया होनेसे भगवत्सेवार्थ मध्यमें पुनः निजाचार्यवन्दन समझा रहे हैं:

**पुनः श्रीमदाचार्यचरणकमलका ध्यान करना चाहिये -**

**चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः ।**

**स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥**

यहां प्रतिष्ठाप्य भगवान् पुरुषोत्तमकी सेवाके लिये पुनः श्रीमदाचार्यचरणकमलका वन्दन सेवाकर्ताके भीतर दैन्यभावके उद्बोधनार्थ है यह पुनः



**श्रीमदाचार्यचरणकमलका ध्यान वाक्यांशसे आरम्भ कर प्रणमामि मुहुर्मुहुः**  
वाक्यांश पर्यन्त समझाया गया है। यहां अवधेय यही है कि लौकिक विषयोंके बारेमें चिन्ता दूर करनेकी कोई बात नहीं है, क्योंकि तब तो भक्ति सकामतावश सगुणा बन जायेगी।

इस पुरुषोत्तमप्रतिष्ठारूप कर्ममें यह पुरुषदोषरूप चिन्ताके दूर करनेकी बात अकस्मात् ही क्यों-कैसे आ धमकी ? इस प्रश्नका समाधान “**एक मेरे शरणमें आ जाओ मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूंगा. किसी तरहका शोक मत करो**” (भग.गीता.१८।६६) इस भगवद्बचनमें “शोक मत करो” ऐसा कहा गया है। यहां सभी तरहकी आध्यात्मिक चिन्ताओंको छोड़ कर भगवान्की शरणागतिका उपदेश दिया गया है। हमारे मार्गमें सेवाभक्तिसे पहले शरणागतिरूप धर्मका अनुष्ठान और तदन्तर्गत विधि-निषेध भी ज्ञातव्य और अनुसर्तव्य होते हैं। फिरभी अपने सेवाभावके आलम्बनविभावरूप सर्वतो रक्षय भगवत्स्वरूप और शरणागतिभावके आलम्बनविभावरूप सर्वतो रक्षक स्वरूपमें विरुद्धधर्माश्रयताके उपदेशार्थ यह चिन्तानिवृत्त्यर्थ महाप्रभुके चरणकमलोंका ध्यान धरनेकी बात समझायी जा रही है। सभी तरहके पाप-शोक आदिसे भगवान्के रक्षक होनेका भाव हमारे मनमें सरक नहीं जाना चाहिये कि हमारी आत्माका उद्धार कैसे होगा, हमारे परिवारजनोंका निवेदन हुआ कि नहीं, यदि वे निवेदित हैं तो भगवत्सेवामें उनका विनियोग क्यों नहीं होता, हमने तो आत्मा-आत्मीय सभीका निवेदन किया किन्तु भगवान्ने उसे स्वीकारा कि नहीं, सेवार्थ अपेक्षित सामग्री या वित्त कैसे जुटाने, सेवामें सहकार देने कोई परिवारमें क्यों तैयार नहीं होता, ऐसी चिन्ता सब व्यर्थ ही होती हैं। महाप्रभुके चरणकमलोंके परागसे परितृप्त मत्त भ्रमरोंके जैसे महाभाग्यवान् भगवदीयोंके मनमें ऐसी चिन्ता हो ही नहीं सकती।

तब निजाचार्योपदेशसे विपरीत भगवद्भजनमें धनिकोंद्वारा उपाहत धनके बिना की जाती भगवत्सेवा भगवत्सुखरूपा नहीं कर पायेंगे अतः धनिक दर्शनार्थियोंके सेवादर्शनार्थ आगमनकी चिन्ता या इस बारेकी कुटिल चतुराई हमारे आचार्यचरणके वंशजोंको क्यों करनी चाहिये ? ऐसी चिन्ता या चतुराई करनेपर तो निजाचार्यके हृद्गत भावोंका अनुरोधी भगवत्प्रादुर्भाव हो नहीं पायेगा प्रत्युत प्रादुर्भूत भगवान्का भी तिरोभाव ही हो जाता है। यह उज्जयिनीकी ब्राह्मणीकी (२५२ वैष्ण.वा.३८।१)

वार्ताके आधारपर सिद्ध होता है।

अपने-आपको वाल्लभ माननेवालेने अपने ‘विमर्श’ नामक ग्रन्थमें यह जो कहा कि किसीको अपने सम्प्रदायका या भक्त माने बिना दर्शन कराना दोषरूप होता है। भगवद्दर्शनार्थ आनेवाले, परन्तु किसी भी दर्शनार्थीको अपने सम्प्रदायका या भगवदीय भक्त मान कर दर्शन करानेमें कोई दोष नहीं होता। ऐसे कुविमर्शकी नीति-रीति-निष्ठाकी पोल हमने अपनी विशोधनिका के तीन भागोंमें खोल दी है। उसे पढ़ कर देखनेपर सारी बात स्पष्ट हो जायेगी। अतः यहां उसके विस्तारमें जाना अनपेक्षित होगा।

**६.आत्मसमर्पणके बाद क्रमप्राप्त भक्तिबीजभावरूप भगवत्सम्बन्धका अनुसन्धान और इस आधारपर भगवान्के भीतर भी “इस जीवका मुझे उद्धार करना है” ऐसी इच्छाको प्रकट करनेवाली विशेष कृपावाले स्वरूपके आविर्भावकी भावना :**

**इसके बाद पञ्चाक्षरवाला श्रीकृष्णात्मक महावाक्य स्वरूपके हृदयका स्पर्श कर के तीन बार बोलना चाहिये।**

पुष्टिजीवोंकी भक्ति-प्रपत्तिसे जुड़ी सभी तरहकी आध्यात्मिक चिन्ताओंके निवर्तक निजाचार्यके चिन्तनद्वारा निश्चिन्त हो कर स्वयंमें भगवदीयत्व और प्रतिष्ठाप्य भगवत्स्वरूपमें स्वामित्व भाव जग पाये इस तरहका मूर्तिके साक्षात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण होनेके अनुसन्धानका उपदेश दे रहे हैं **पांच अक्षरवाला श्रीकृष्णात्मक महावाक्य वाक्यांशसे आरम्भ कर तीन बार बोलना चाहिये** वाक्यांश पर्यन्त।

यहां एक सन्देह होता है कि ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रके अन्तर्गत क्यों केवल पांच अक्षरोंका ही श्रीकृष्णरूप होना कहा जाता है ? उसके अलावा भी अक्षरोंको कृष्णरूप नहीं माना जाता हो तो ८४ वैष्णवोंकी वार्तामें अम्बाला नगरके कायस्थ नारायणदासको उनके घरमें भगवत्सेवाके लिये “**घरमें सुकरता न होनेसे स्वरूपसेवा तुमसे नहीं बन पायेगी सो अष्टाक्षरमन्त्र और गद्यमन्त्र के मेरे हस्ताक्षर पधरा देता हूं इन्हें भोग धरके प्रसाद लेना**” (८४ वैष्ण.वा.५७।१) ऐसा आचार्यचरणने जो

आदेश दिया वह क्यों दिया ? अतः समग्र मन्त्र कृष्णात्मक है या केवल उसके अन्तर्गत केवल पांच अक्षरवाला महावाक्य ? इन दोनोंमें क्या युक्त लगता है ?

श्रीकृष्णके नाम साक्षात् श्रीकृष्णात्मक होते हैं. उनके सहित होनेपर तो परम्परया भक्ति और प्रपत्ति के मन्त्रके अंगभूत अवशिष्ट अक्षरोंका भी भगवान्‌के गुणधर्मरूप होना मानना उचित होता है. यह “नाम और अर्थ के बीच अभेद होता है वेद भी श्रीहरिके अनेक नामोंकी शब्दराशि है अतएव कहा गया है ‘अनेक रूप धारण कर अनेक नामवाला वह बन गया’ इस वाक्यके आधारपर वह वेद और वेदार्थ उभयरूप होनेसे नाम भी सभीको शुद्ध करते हैं” (त.दी.नि.३।६।४१-४२) इस वचनमें उपलब्ध होता है. केवल पांच अक्षरोंको श्रीकृष्णरूप माननेपर “अनेकविध रूप और नाम को धारण कर जो स्वयं क्रीड़ा करता है, जो जगत् बन कर क्रीड़ा करता है और जिसके कारण जगत् क्रीड़ा करता है” (त.दी.नि.१।१) इस वचनकी संगति कैसे बैठेगी ? इसका समाधान यों होता है कि जैसे रूपात्मक जगत्‌में कुछ रूप “जो क्रीड़ा करता है” इस कल्पमें आते हैं. कुछ रूप “जो जगत् बन कर क्रीड़ा करता है” इस कल्पमें अन्तर्निहित होते हैं. अन्य कुछ रूप “जिसके कारण जगत् क्रीड़ा करता है” इस कल्पमें अन्तर्गत माने जाते हैं; वैसे ही नामोंके बारेमें भी कुछ नाम सच्चिदानन्दरूप होते हैं, अन्य कुछ केवल चिद्रूप होते हैं; अन्य कुछ केवल ध्वन्यात्मक शब्द होनेसे केवल सद्रूप ही होते हैं. अतः ब्रह्मात्मक होना सभी समान होनेपर भी श्रीकृष्णात्मक होना पांच अक्षरोंवाले महावाक्यका मान्य रखना चाहिये श्रीप्रभुचरणके वचनके प्रामाण्यके अनुरोधवश. तब “भगवते कृष्णाय” इन सात अक्षरोंका भी श्रीकृष्णात्मक होना मान्य करना चाहिये था समानयोगक्षेम न्यायके कारण ! इन दोनोंमें वस्तुतः एक अन्तर है ‘भगवते’-‘कृष्णाय’ शब्द समर्पणकर्ताकी समर्पणक्रियाकी अपेक्षासे स्वतन्त्र जीवात्माके सम्प्रदानार्थक होनेसे क्रियाशेष होता है. अतः परतन्त्र अर्थके वाचक बन जाते हैं. जबकि पांच अक्षरोंवाले महावाक्यमें ‘कृष्ण’ पदार्थ सम्बोधनार्थक प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त हुवा होनेसे अन्यशेष नहीं हो पाता है. ‘तव’-‘अस्मि’ पद तो “मैं कृष्णस्वामिक हूँ” इस अर्थका बोधक होनेसे कृष्णशेष अर्थके वाचक हैं. इनसे पहले आनेवाले “मैं दास हूँ” इस अर्थकी बोधक पदराशि होनेसे भी यही सिद्ध होता है.

यहां एक आशंका होती है कि \*“तुम वह हो”, “आज भी कोई ऐसे जान पाये कि ‘मैं ब्रह्म हूँ’ तो वह दिखलायी देता यह जो कुछ है तद्रूप बन जाता है... इसके विपरीत जो अपनेसे अन्य किसी देवताकी उपासना करता है कि ‘वह देव कोई और है और मैं कोई और हूँ’ तो वह किसी पशुकी तरह ब्रह्मको जान नहीं पाया. अतः वह तो देवताओंका पशु ही रह जाता है” (छान्दो.उप.६।८।७, बृह.उप.१।४।१०) इन श्रुतिओंमें निन्दित होनेसे “मैं दास हूँ” ऐसी बुद्धि तो स्वयंके पशु होनेका प्रमाण होनी चाहिये ! अतः “वह कृष्ण मैं स्वयं हूँ” इस तरहकी भावना क्यों नहीं करनी ?\* ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि औपनिषदिक ज्ञानमार्गमें अपने आराध्य देवताके स्वयंको दास माननेके बजाय स्वयंको देवतारूप मानना उपकारक होता है. उसी उपनिषत्प्रतिपाद्य परमात्माकी, किन्तु, भागवतोक्त भक्तिमें स्वयंके तत्त्वतः परमात्मारूप होनेपर भी जीवात्माको परमात्माके दास माननेमें कोई आपत्ति मानी नहीं जाती. क्योंकि विविध नाम रूप कर्मों के भेदसे प्रकटे ब्रह्माण्डमें किसी भी वस्तु या तत्त्व को ब्रह्मबुद्धिसे निहारनेपर निरपवादतया प्रत्येक वस्तुका ब्रह्मतया भान होता है. उसी ब्रह्मको, जब, अंशी परमात्मा होनेकी भावसे देखा जाये, तब सभी कुछ उसका अंश लगता है. उसी ब्रह्मको, जब, भगवान्‌ होनकी बुद्धिसे भजना हो तो सभी कुछ उसके आधीन या उसके सहज दास जैसे लगते हैं. अतएव ब्रह्म और जीव के तादात्म्यके उपदेशरूप ब्रह्मसम्बन्धद्वारा जीवके भीतर भजनौपयिक माहात्म्यज्ञान प्रकट होनेपर पुरुषसूक्तद्वारा उसकी प्रतिष्ठा मूर्तिमें की जाती है. उसे कर लेनेपर भगवन्मूर्तिमें भी भजनीय होनेका माहात्म्य झलकने लगता है. तब निजात्मा और सकल आत्मीय पदार्थके निवेदनद्वारा प्रतिष्ठाप्य मूर्तिके बारेमें पारमात्मिकी आसक्तिके अनुकूल बोध होता है. इसके सिद्ध हो जानेपर साक्षाद् भगवान्‌ श्रीकृष्ण होनेकी बुद्धिसे मूर्तिके सेवनार्थ “मैं भगवान्‌के इस स्वरूपका दास हूँ” ऐसी भावनाके साथ भजन अपेक्षित होता है. इसमें श्रुति स्मृति पुराण या तन्त्र किसी भी शास्त्रसे विरोध उठ नहीं पाता. यों सभी शास्त्रोंकी एकीकृत प्रक्रिया महाप्रभुने प्रतिपादित की है.

जैसे कि भक्तिमार्गके प्राणाधाररूप भागवतमें कहा गया है :

“ब्रह्मका अपना स्वरूप इतना दुर्बोध है कि कोई उसे जान नहीं सकता. अतः उसे जतानेको ब्रह्म क्रमशः परमात्मा भगवान्‌ और अन्तमें लीलावताररूपोंको भी धारण करता है. इन लीलावतारोंके चरित्रके अमृतके सागरकी लहरोंमें लहराते रहनेको कई ब्रह्मज्ञानी मुक्तिकी कामनाका ही

परित्याग कर देते हैं, जिन्होंने भगवान्‌के चरणकमलोंके आसपास मंडराते हंसोंके बीच बने रहनेको अपने घरका भी त्याग कर दिया होता है.”

(१०।८४।२१).

“अतः भगवान्‌की भक्तियोगसे आराधना करनेवाले भगवदीय योगियोंको ज्ञान-वैराग्यकी अपेक्षा रखे बिना भी प्रायः श्रेयः सिद्ध हो जाता है. जो कुछ कर्मसे या तपसे या ज्ञान-वैराग्यसे या दान-धर्मसे या अन्य श्रेयस्कर उपायोंसे प्राप्त हो सकता है, वह सभी कुछ भगवान्‌के बारेमें भक्तियोगसे निरायास प्राप्त हो जाता है.”

(भाग.पुरा.११।२०।३१-३३).

इन और ऐसे अन्य भी वचनोंके कारण भक्तियोगकी प्रारम्भिक अवस्थाके अपवादको छोड़ कर ज्ञानमार्गीय ज्ञान बहोत उपयोगी नहीं होता. फिरभी भक्तियोगमें उपयोगी भावके बारेमें श्रुतिमें जो निन्दावचन मिलते हैं उसकी संगतिकी जिज्ञासाके समाधानार्थ भागवतोक्त यह भक्तिका निगूढ़ रहस्य जान रखना अच्छी बात होगी :

“अपनी-अपनी अधिकारिताके बारेमें जो निष्ठा है वही गुण है. क्योंकि किसी श्रेष्ठसे श्रेष्ठतर विषयके बारेमें भी अपनी अधिकारिता न होनेपर उसे अपनाना दोषरूप हो जाता है... अतएव शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जैसे किसी एकका गुण दूसरेके किसीके लिये दोषरूप हो सकता है, वैसे ही किसी एकका दोष दूसरे किसीके लिये गुणरूप भी हो सकता है.”

(भाग.पुरा.११।२१।२-१६).

अतएव ज्ञानमार्गमें जिसे दोषरूप माना गया हो उसका भक्तिमार्गमें दोषरूप होना अनिवार्य नहीं. अपने और अपने आराध्य के बीच ऐकान्तिक अद्वैतभाव ज्ञानमार्गमें गुणरूप होनेपर भी भक्तिमार्गमें दोषरूप होता है. अतः महाप्रभुके अनुसार भक्तिके माहात्म्यज्ञानवाले अंशमें गुणरूप होता और सुदृढ़-सर्वतोधिक स्नेहवाले अंशमें दोषरूप. अतः अवस्थाभेदसे भिन्न दोनोंका एकीकृतरूप पुष्टिभक्तिका परम रसाधायक रहस्य है.

भगवान्‌के शरणागत भक्तोंके बारेमें, अतएव, ब्रह्मज्ञानीके भीतर किसी तरहके कलहकी मनोवृत्ति नहीं होती पर अप्रपन्न ज्ञानमार्गवादी तो कलह करते ही हैं. ऐसी स्थितिमें भगवान्‌ श्रीरामकी प्रतिज्ञा कि “एक बार भी मेरी शरणमें आ कर मुझे ‘मैं तुम्हारा हूँ’ ऐसी प्रार्थना करनेवालेको सभी तरहकी भीतिसे मुक्त करना मेरा व्रत है” (वाल्मी.रामा.६।१८।३३-३४). अतः अपने और भगवान्‌ के बीच रहे पूर्ण अद्वैतको भलीभांति जान कर भी भगवान्‌की शरणमें जानेकी कामनावाले जो भक्त होते हैं, उन्हें ऐसे ज्ञानमार्गवादीओंकी अद्वैतभंगकी धमकीसे भगवान्‌ स्वयं बचा लेते हैं, अपने लीलावतारोंमें प्रकट गुण-धर्म-स्वरूप-चरित्रमें प्रकट की उद्धारसामर्थ्यके द्वारा !

अतः प्रतिष्ठाप्य भगवन्मूर्तिके हृदयका स्पर्श करके एक बार भी पञ्चाक्षर मन्त्र बोलनेसे भयकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है. अतएव तीन बार उसे अवश्य ही बोलना चाहिये. “ज्ञानिओंके आलोचनात्मक वचन भी भक्तके भीतर मोह पैदा नहीं कर पाते. अपना भजनीय स्वामिरूप प्रकट कर भगवान्‌ स्वयं उसे भक्त-सेवकको सोंप देते हैं. वह भक्तको भी प्रिय ही लगता है. अतः उसके भीतर उस भगवत्प्रदत्त अपने भजनीय रूपको स्वामी न माननेका मोह कैसे पैदा हो सकता है !” (संन्या.निर्ण.२०) महाप्रभुका ऐसा स्पष्ट वचन मिलता होनेसे भी. फिरभी दूसरे किसीका दास बनना तो सर्वत्र कष्टप्रद ही माना जाता है. अतः दास बननेका यह मोह क्यों पालना ? ऐसे आक्षेप या आत्यन्तिक अद्वैतके मोह का निराकरण रामानुजीय सम्प्रदायके श्रीवेदान्तदैशिकने भलीभांति किया है. जैसाकि वे प्रतिपादन करते हैं :

“मुक्तिका स्वरूप निरवधिक आविर्भूत सुखका उपभोग है, मुक्तावस्थामें यदि भगवान्‌की सेवा करनी पड़ती होनेके कारण दुःखरूप किसीको लगती हो तो वह स्वयं भगवान्‌के स्वरूपके ज्ञापक प्रमाणसे विरुद्ध जाती होनेसे उपपन्न नहीं हो पाती. क्योंकि पापोदयके कारण करनी पड़ती सेवा दुःखप्रद हो सकती है परन्तु पुण्य और पाप दोनोंसे ऊपर उठ कर परमानन्दस्वरूप भगवान्‌ विष्णुकी सुखमयी सेवाके दुःखप्रद होनेका कोई कारण बच नहीं जाता.”

(तत्त्वमु.कला.२।६४)

यद्यपि जैसा आत्यन्तिक भेद रामानुजीय वेदान्तमें अभिप्रेत है वैसा आत्यन्तिक भेद वाल्लभ वेदान्तमें मान्य नहीं. फिरभी अपने यहां जैसा ऐच्छिक भेद स्वीकारा गया है उसके सन्दर्भमें भी यह प्रत्युत्तर वाल्लभ वेदान्तको भी सर्वथा उपपन्न ही लगता है.

७.सद्रूप मूर्तिमें सच्चिदानन्दरूप भगवान्‌के जागरणकी भावना :

उसके बाद “हे अजित ! आपकी जय हो !! जय हो !!!  
स्वरूपाज्ञानरूप दोषोंको प्रकट करनेको सत्त्वरजस्तमोगुणोंका ग्रहण करनेवाली अनादि माया=प्रकृतिका आप त्याग करो ! आप अपने स्वरूपमें ही ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य आदि सभी दिव्य गुणोंको धारण किये हुवे रहते हो. सभी चराचरके भीतर काम करनेवाली सकल शक्तिओंके उद्बोधक आप ही हो. आप ही कभी योगनिद्रारूपा अजा प्रकृतिके साथ तो कभी स्वयमेव भी अपनी इच्छाके अनुरूप बरतते हो. जैसे आप बरतते हो वैसे ही निगम=वेद भी आपका अनुचरण करता रहता है.” ( भाग.पुरा.१०।८४।१४ )  
इस श्लोकको पढ़ना चाहिये.

यहां यह शंका होती है कि “जो भूमा है वही सच्चा सुख है अल्पमें सच्चा सुख होता नहीं. भूमा ही सच्चा सुख होता है” ( छान्दो.उप.७।२३।१ ) इस श्रुतिवचनमें कहे गये उस निरवधिक सुखरूप ‘भूमा’ के ही अपरपर्याय होनेके रूपमें गीतामें ‘पुरुषोत्तम’ पद प्रयुक्त हुवा है. ऐसे उस परम तत्त्वकी सेवा करनेवालेके बारेमें दुःखरूप दोषकी सम्भावना स्वीकारी नहीं जा सकती है. जो अविद्याकल्पित न हो ऐसे स्वरूपके बिना सेवा शक्य नहीं होती. सेवार्थ अविद्याप्रयुक्त जीवभाव तो अपेक्षित रहता ही है. वह अविद्याकल्पित स्वरूप पुनः पञ्चपर्वध्यासमूलक होता है. इस अध्यासकी हेतुभूत व्यामोहिका मायाकी निवृत्तिकी प्रार्थना यहां इस पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा विधिमें कुछ विपरीत सी बात लगती है. अतः हे अजित !  
स्वरूपाज्ञानरूप दोषोंको प्रकट करनेको सत्त्वरजस्तमोगुणोंका ग्रहण करनेवाली अनादि माया=प्रकृतिका ! इत्यादि वेदस्तुतिके पद्यका पाठ यहां

क्यों दिखलाया गया है ?

इस विषयमें यह अवगन्तव्य है : अखिल स्थावर-जंगमोंकी बाह्य-आभ्यन्तर इन्द्रियोंकी शक्तिके उद्बोधक वस्तुके अभिन्ननिमित्तोपादानरूप मूलहेतु भगवान् ही होते हैं. प्रकृति तो द्वारभूत करण होनेके रूपमें प्रयुक्त होती है. यह बात महाप्रभु कहते हैं :

“प्रपञ्च भगवान्‌द्वारा निर्मित है. स्वयं भगवान् ही अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा प्रपञ्चरूप धारण कर प्रकट होते हैं. इसी सर्वभवनसामर्थ्यके अन्तर्गत एक जो अविद्या है उस शक्तिके कारण जीवको संसार होता सा कहा जाता है... इस प्रपञ्चका मूलोपादन न तो प्रकृति हो सकती है... न ही इसे विवर्तरूप ही माना जा सकता है... यह तो भगवान्‌का कार्य अर्थात् उस परमकाष्ठापन्न ब्रह्मरूप वस्तुकी कृतिसे प्रकट हुवा है इतना ही नहीं अपितु भगवद्रूप भी है.”

( त.दी.नि.प्र.१।२३ )

यहां गीताके जिस वचनका विचार करनेपर एक आशंका उभरती है वह यों है : “जैसी धारणाके कारण स्वप्न भय या शोक होता हो... वह धारणा तामसी होती है” – “जो सुख आरम्भमें और फलपरिणतिमें भी आत्ममोहक हो या निद्रा आलस्य या प्रमाद के कारण पैदा होता हो उसे तामस समझना चाहिये” ( भग.गीता.१८।३५, ३९ ) इस वाक्यद्वारा जीवोंको होती निद्रा और भगवान्‌की योगनिद्रा अलग-अलग तरहकी होती हैं. ऐसी स्थितिमें योगनिद्राके त्यागकी प्रार्थनाका इस प्रतिष्ठाकर्मके साथ कैसा सन्दर्भ जुड़ सकता ?

इसका समाधानार्थ महाप्रभुका यह वचन अनुसन्धेय है “योगनिद्रा तो भगवान् एक लीलाके रूपमें स्वीकारते हैं, जीवकी तरह निद्रासे अभिभूत हो कर निद्रित नहीं होते. क्योंकि भगवन्निद्रा माया या प्रकृति ये तीनों एक ही तत्त्वके तीन रूप हैं... भगवान्‌की यह वह शक्ति है कि जिससे भगवान् जीवोंको व्यामोहित करते हैं. क्योंकि भगवान्‌की योगनिद्रा जीवोंमें निद्रा आलस्य आदि रूपोंमें व्यामोहिका बन कर प्रकट होती है” ( सुबो.१०।८४।१४ ). इस आचार्यवचनके पर्यालोचन करनेसे ब्रह्मकी सदंशरूपा प्रकृति भी ऐसी ही कोई सम्मूर्छितावस्था जैसी भगवान्‌की योगनिद्रा है. सच्चिदानन्दरूप भगवान्‌की आनन्दांशद्वारा लीलाविहारकी इच्छा

“उसने अपनी एकाकितामें रमण करनेके बजाय द्वितीयकी कामना की” (बृह.उप.१।४।३) यों निरूपित हुयी है। भगवान्की ही “मैं एकाकी ‘बहुत सारे रूपोंमें प्रकट हो जाऊं’” (छान्दो.उप.६।२।३) इच्छाके कारण भगवान्के चिदंशोंके साथ वही शक्तिरूपा प्रकृति, भगवान्के अप्रतिहतसत्संकल्पके कारण, अपनी सम्पूर्णतावस्थाका त्याग कर महदादि पञ्चमहाभूत पर्यन्त तिरोहितचिदानन्दांशरूप विकारोंका प्रसव करती है। ऐसा होनेके कारण सदंशभूत भगवन्मूर्तिमें भी भगवान्की योगनिद्रितावस्था जैसी कोई अवस्थाकी भावना करनेको तथा भक्तगृहमें भक्तोंद्वारा अनुष्ठित सेवाका अंगीकार करनेकी एक नूतन लीलानन्दको प्रकट करनेको भगवान्को जगानेकी भावना करनेको यह पाठ सर्वथा प्रासंगिक ही लगता है। एक बात यह और है कि “भगवान्की सभी लीलाओंका अन्तर्भाव पुष्टिलीलामें शक्य होनेसे सारी सृष्टि कृष्णार्थ ही प्रकट होती जाननी चाहिये। अतएव तो भक्तिके साथ श्रीहरिका आश्रय लेनेपर सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं” (त.दी.नि.३।६।९८-९९) ऐसा निरूपण मिलता होनेसे पुष्टिमार्गीय भक्तके देह गेह धन या परिजन आदि सभी कुछ भगवत्सृष्टिके अन्तर्गत हैं। अतः पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा विधिमें वस्तुमात्रका श्रीकृष्णार्थक होना श्रीकृष्णसेवामें उन्हें विनियुक्त करना है। उस विनियोगरूपा सेवाकी अंगीकृतिकी लीलाके आरम्भक होनेके रूपमें भी इस पद्यका पाठ उपपन्न ही है।

“सेवकोंका व्यवहार लोकमें स्वामीके प्रति जैसा होता है वैसे ही सभी वस्तुओं तथा क्रियाकलापों का ब्रह्मको समर्पण कर देनेपर दोष भी ब्रह्मात्मक बन जाते हैं। जैसे गंगामें मिल जानेपर अन्यान्य जलराशि भी गंगारूप हो जाती हैं तद्वत् यहां भी समझ लेना चाहिये।”

(सिद्धा.रह.८-९).

इस प्रतिपादनका अवलोकन करनेसे यहां भी ब्रह्मसम्बन्ध ले कर अपने सर्वस्वका भगवान्की सेवामें विनियोग करनेपर सारे दोष अपहृत हो जाते हैं। अतः सभी दोषोंके मूलमें रही व्यामोहिका मायाकार्यभूता अहन्ता-ममता सेवामें प्रतिबन्धक न हो पायें, तदर्थ भी इस पद्यका पठन आवश्यक है। यही बात “इस व्यामोहिका मायाको मारनेकी क्या आवश्यकता है? यह तो अनेक गुणोंवाली है सुषुप्तिमें परमानन्दानुभूतिरूप गुणका आधान भी जीवात्मामें करती है। फिरभी गुणवती होनेके

बावजूद जीवात्माओंको स्वयं अपने स्वरूपको भुला देनेवाले दोषरूप गुणोंको धारण भी करती होनेसे इसका निरसन आवश्यक है” (सुबो.१०।८४।१४) सुबोधिनीके इस वचनमें महाप्रभुने कही है। जो परीक्षाके बिना जिस-किसीको अपना गुरु मान लेते हैं अथवा जिन्हें योग्य अधिकारी होनेकी परीक्षा लिये बिना कोई भक्तिमार्गमें दीक्षित कर लिया जाता है, ऐसे लोकानुगत पशुरूप अंधे गुरुके अंधे अनुगामी जो ब्रह्मसम्बन्ध देते-लेते रहते हैं। ऐसे मूढ़जन भी जब तक स्वयंके घरोंमें की जाती श्रीकृष्णसेवामें अपने सर्वस्वका विनियोग नहीं करते, तब तक उनके कोई भी दोष केवल ब्रह्मसम्बन्ध लेनेमात्रसे दूर हो जाते मान लेना भ्रान्तिकी पराकाष्ठा है।

८.श्रीकृष्णाकृतिमें लोकवेदप्रसिद्ध श्रीकृष्णके अवतीर्ण होनेकी भावना :

उसके बाद “कमलकी पंखुड़ीके से नेत्रवाले, चार भुजाओंमें शंख गदा आदि आयुधोंको धारण किये हुवे, वक्षपर श्रीवत्सके सुनहरी चिह्नवाले, गलेमें कौस्तुभमणि धारण किये हुवे, सजल मेघके जैसे श्यामल अंगपर पीताम्बर धारण किये हुवे, महर्घ वैडूर्यमणिसे निर्मित किरीटमुकुट और कुण्डलों की कान्तिसे जिनकी घुंघराली लटें सूर्यकिरणोंके समान चमक रही थी, कटिमें धरी करधनीकी लड़ियां जिनके लटक रही थी, बाहुओंमें बाजुबंद और कलाइओंमें कंकण जिनके शोभित हो रहे थे ऐसे अद्भुत बालकको वसुदेवजीने देखा।”

(भाग.पुरा.१०।३।९-१०)...

यहां कोई पूछना चाहेगा कि मथुरामें तो चतुर्विध व्यूहसे विशिष्ट लोकवेदप्रसिद्ध पुरुषोत्तम प्रादुर्भूत हुवे। पुष्टिमार्गमें जबकि लोकावेदातीत द्विभुज यशोदात्मज पुरुषोत्तमकी भक्ति होनी चाहिये। अतः पुष्टिभक्तिरूपा सेवाके लिये प्रतिष्ठाप्य भगवन्मूर्तिकी प्रतिष्ठाविधिमें चतुर्भुज वासुदेव पुरुषोत्तमके जन्मके पद्यका पाठ क्यों दिखलाया गया है? अतः वसुदेवजीको हुवे दर्शनके वर्णनवाले स्वरूपकी भावना कुछ असमञ्जस लगती है? क्या खूब यह पुष्टिभावका प्रकर्ष है कि प्रभुचरणोंके निरूपणमें असम्भावना या विपरीतभावना प्रकट होने लगी! क्योंकि जिन गोपिकाओंके भावरूप भगवान्को लोकवेदातीत माना जाता है वे गोपीजन



भी तो उसी लोकवेदातीत भगवान्को -

“आप गोपरानी श्रीयशोदाके सुत नहीं हो प्रत्युत सभी देहधारिओंके अन्तर्यामी हो ! ब्रह्माजीकी जगत्के रक्षण करनेकी प्रार्थनाके कारण आप सात्वतोंके कुलमें प्रकटे हो.”

“आप अभयदान करनेवाले और वृष्णिओंमें श्रेष्ठ हो.”

“अपनी श्रमयुक्त कान्तिसे नयनोंमें उत्सव प्रकट करनेवाले... सुहृदोंको आशिष देनेकी इच्छासे माता देवकीकी जठरभूमिपर उगे नक्षत्रोंके राजा चन्द्रमाके जैसे श्रीकृष्ण आ रहे हैं.”

( भाग.पुरा. : १०।२८।४-५, १०।३२।२३ )

इन गीतरूप निरूपणोंमें लोकवेदप्रसिद्धतया ही गोपिकायें अपने लोकवेदातीत पुरुषोत्तमका विभावन कर रही हैं. अतः उनके भावरूपात्मक भगवान्में उभयविध रूपोंका समाहार सिद्ध होता होनेसे उन्हें गुरुपम माननेवाले पुष्टिमार्गीयोंको भी भगवान् उभयविध ही स्वीकारने चाहिये. “कौण्डिन्य ऋषि और गोपिकायें गुरु माने जाते हैं अतः उनके भाव, जो भावना करनेपर प्रकट होंगे, ही साधन मानने चाहिये अन्य कुछ अपेक्षित नहीं होता” ( संन्या.निर्ण.८ ) ऐसा आचार्यचरणोंका आदेश भी मिलता होनेसे यह आवश्यक है.

९.श्रीनन्दके व्रजमें भी लोकवेदातीत प्रेमादिभावचतुष्टयात्मक भगवान्के प्राकट्य तथा वैसी लीलाओंका भावन :

‘ ‘ न न द र त व ा त म ज . . . श चि र्  
अलं कृ तः...नवकु ङ्कु मकि उजलकं ...चलत्कु चाः’  
( भाग.पुरा.प्रमा.प्रक.१०।५।१-१० ). “तं गोरजश्छुरितकुन्तल...  
अभ्यगमन् समेताः”, “बर्हापीडं नटवरवपुः...प्राविशद्गीतकीर्तिः”  
( भाग.पुरा.प्रमे.प्रक.१०।१२।४२, १०।१८।५ ). “श्यामं  
हिरण्यपरिधिं . . . मुखं जहासम्’  
( भाग.पुरा.साध.प्रक.१०।२०।२२ ). “तासाम् आविरभूत्  
शरिरः . . . साक्षान् मन्मथः’ , “उत्सवं

श्रमरुचापि . . . देवकीजठरभूरुडुराजः’  
( भाग.पुरा.फलप्रक.१०।३२।२३ ) इत्यादि पद्योंमें भगवान्का जैसा स्वरूप निरूपित हुवा है वैसे स्वरूपका इन पद्योंको पढ़ते समय ध्यान करना चाहिये-

यहां प्रभुचरणने “इत्यादि पद्योंमें जैसा भगवान्का स्वरूप निरूपित हुवा है वैसे स्वरूपका इन पद्योंको पढ़ते समय ध्यान करना चाहिये” ऐसा कहा होनेसे तथा परम्परामें भी भगवज्जन्मोत्सवकी वेलामें जन्मप्रकरणके उक्त दो पद्योंका नहीं प्रत्युत प्रथमसे ले कर अठारह पद्योंका अनुवादरूप श्रीसूरदासजीका “व्रज भयो महरिके पूत” व्रजभाषाका पद गाया जाता है, इस हेतुके वश भी सारेके सारे मूलपद्योंका यहां संगृहीत कर देना चाहेंगे. इसी तरह अन्य भी कुछ श्रीहरिरायजी द्वारा उपदर्शित प्रसक्तानुप्रसक्त पद्योंको भी. इसे व्यर्थ विस्तार नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जिसे इन भगवान्के जन्मोत्सवकी भावनाके पद्योंमें व्यर्थ विस्तार लगता हो वह अवश्य इन पद्योंमें निरूपित भावना न करे अन्यथा करनेमें कोई बाधक या विस्तार नहीं है. जिसे इन श्लोकोंको बोलनेमें कठिनाई लगती हो तो वह पूर्वोक्त सूरदासजीका, या “बधाइ माइ आज बधाइ” पद नन्ददासजीका; अथवा “जन्म सुतको होत ही आनन्द भयो” पद हरिरायजीका भी जन्मप्रसंगके अनुगानरूप इन पद्योंका गान कर सकता है.

“नन्दस्तु आत्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः आहूय विप्रान् वेदज्ञान्  
स्नातः शुचिर् अलङ्कृतः वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्म आत्मजस्य वै  
कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं; तथा, धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः  
समलंकृते तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशातकुम्भाम्बरावृतान्. कालेन स्नानशौचाभ्यां  
संस्कारैस् तपसा इज्यया शुद्ध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याणि आत्मविद्यया.  
सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः गायकाः च जगुर् नेदुर् भेर्यो दुन्दुभयो  
मुहुः. व्रजः संमृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः  
चित्रध्वजपताकास्रक् चैलपल्लवतोरणैः. गावो वृषा वत्सतरा  
हरिद्रातैलरूषिताः. विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः  
महार्हवस्त्राभारणकञ्चुकोष्णिषभूषिताः गोपाः समाययुः राजन्  
नानोपायनपाणयः. गोप्यश् च आकर्ण्य मुदिताः यशोदायाः सुतोद्भवम्  
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुः वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः.

नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः बलिभिस् त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः. गोप्यः समृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठश्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः नन्दालयं सवलया व्रजतीर् विरेजुः व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः. ता आशिषं प्रयुञ्जानाः ‘चिरं पाहि’ इति बालके, हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चत्यो अजनम् उज्जगुः. अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे कृष्णे विश्वेश्वरे अनन्ते नन्दस्य व्रजम् आगते. गोपाः परस्परं हृष्टाः दधिक्षीरघृताम्बुभिः आसीञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः. नन्दो महामनास् तेभ्यः वासोऽलङ्कारगोधनं सूतमागधबन्दिभ्यो ये अन्ये विद्योपजीविनः तैस्तैः कामैर् अदीनात्मा यथोचितम् अपूजयत्, विष्णोः आराधानार्थाय स्वपुत्रस्य उदयाय च. रोहिणी च माहाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता व्यरचद् दिव्यवासस्रक्कण्ठाभारणभूषिता. तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् हरेः निवासात्मगुणैः रमाक्रीडम् अभून् नृप !”

( भाग.पुरा.१०।५।१-१८ )

यहां श्रीहरिरायजी और श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा उपदिष्ट एवं परम्परागततया उल्लिखित प्रमाणप्रकरणीय गोपीजनोंद्वारा बालरूप प्रभुकी रक्षाके बहाने किया गया भावस्थापन भी अवश्यग्राह्य होनेसे संगृहीत किया जाता है :

“अव्याद् अजो अङ्घ्रिम्, अणिमान् तव जानु, अथ ऊरू यज्ञो, अच्युतः कटितटं, जठरं हयास्यः, हृत् केशवस्, त्वदुर ईशः, इनस्तु कण्ठं, विष्णुः भुजं, मुखम् उरुक्रमः, ईश्वरः कम्, चक्री अग्रतः, सहगदो हरिः अस्तु पश्चात्, त्वत्पार्श्वयोः धनुरसी मधुहा अजनः च, कोणेषु शङ्खः, उरुगाय उपरि उपेन्द्रस्, तार्क्ष्यः क्षितौ, हलधरः पुरुषः समन्तात्. इन्द्रियाणि हृषीकेशः, प्राणान् नारायणो, अवतु, श्वेतद्वीपपतिश् चित्तम्. मनो योगेश्वरो अवतु. पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिम्, आत्मानं भगवान् परः, क्रीडन्तं पातु गोविन्दः, शयानं पातु माधवो, व्रजन्तम् अव्याद् वैकुण्ठः. आसीनं त्वां श्रियः पतिः, भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयङ्करः. डाकिन्यो यातुधान्यः च कूष्माण्डाः ये अर्भकग्रहाः भूतेप्रेतपिशाचाः च यक्षोरक्षविनायकाः कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः उन्मादा ये हि अपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः, स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाः च, ये सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर् नामग्रहणभीरवः.”

( भाग.पुरा.१०।५।२२-२९ )

यहां एक ऐसी शंका उठती है कि लोकवेदप्रथित पुरुषोत्तम पात्रस्थानीय होता है और उसमें भरे रसके जैसा होता है लोकवेदातीत पुरुषोत्तम. ऐसा मान लेनेपर उल्लिखित पद्यमें रक्ष्य तो रसरूप पुरुषोत्तम लोकवेदातीत भगवान् हैं और रक्षक तो लोकवेदप्रसिद्ध पात्रस्थानीय. क्योंकि किसी न किसी पात्रमें ही तो रसकी रक्षा शक्य होती है. पुष्टिभक्तिमें तो रसरूप भगवान् ही रसनीय या भजनीय होते हैं नकि पात्ररूप ! इस तरहकी शंकाके समाधानतया यह जिज्ञास्य है कि कैसे और किस प्रमाणके बलपर यह माना कि भगवान् रसरूप होते हैं ? ऐसा श्रीहरिराय महाप्रभुके वचनोंके प्रमाणबलपर तो माना नहीं जा सकता. क्योंकि श्रुतिरूप वेदोंमें प्रसिद्ध होनेके रूपमें ही श्रीकृष्णकी रसात्मकताका प्रतिपादन उन्होंने किया है. सो वह वेदप्रथित पुरुषोत्तममें पर्यवसित नहीं होगी तो और कहां होगी ? देखिये : “‘रसो वै सः’ इस श्रुतिके अनुसार वह रसात्मक है. ऐसे कृष्णमें अपनी मति ब्रह्मवादके अनुसार स्थिर करनी चाहिये... पहले संयोगात्मक स्वरूप वसुदेवजीके घरमें स्वयं प्रकट हुवा. उसके बाद वह नन्दरायजीके घरमें पधारा. वहां भावात्मक व्रजमें संश्रित गोपिकाओंके भावरूप स्वरूपको अपनेमें संस्थित किया. उस स्वस्थित स्वरूपद्वारा व्रजमें भगवान् सतत रमण करते हैं.” (स्वमा.मू.निरू.१,१७-१८) इस निरूपणमें रसात्मक स्वरूपकी अन्तःस्थिति ही दिखलायी गयी है. परन्तु प्रष्टव्य यहां यह होता है कि प्रतिष्ठाप्य भगवन्मूर्तिकी प्रतिष्ठा आन्तर अभिप्रेत है या बाह्य ? आन्तर तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि सेवा “वह फलरूपा और साधनरूपा होती है. इनमें मानसी सेवा परा फलरूपा होती है” (सि.मु.प्र.१) यों मूलमें सेवाके दो प्रकार प्रभुचरणने माने. इनमें फलरूपा सेवा मानसी या आन्तर होती है. उसकी साधनरूपा तनुवित्तजा बाह्य होती है. ऐसी स्थितिमें सेव्य भगवन्मूर्तिकी अन्तःप्रतिष्ठा स्वीकार पाना शक्य नहीं. अब बाह्य प्रतिष्ठा अभिप्रेत मानते हैं तो बाह्य स्वरूपके भीतर स्थित भावात्मक स्वरूपकी तरह उसके पात्रस्थानीय भगवन्मूर्तिको भी भजनीय तो मानना ही पड़ेगा, क्योंकि आलम्बनविभाव न हो तो स्थायिभावरूप रसका स्वरूप भी सिद्ध नहीं हो पायेगा. स्थायिभाव तो भगवद्विषयक स्नेहरूप होनेसे सेव्य प्रभुका धर्मरूप होता है और अपने धर्मीपर अवलम्बी होता है. यह बात महाप्रभुने “प्रीति तो भगवान्का एक ऐसा धर्म है कि जिसे भगवान् सभी जीवोंके बीच थोड़े-बहोत रूपमें बांटते हैं ताकि जीवात्मा सुखकी अनुभूतिसे वंचित न रह जाये. अतः जिसकी जहां प्रीति बंध जाती है वहीं वह सुख पाने लगता है.” (सुबो.२।२।७) विधानमें कही है.

अतः भावरूप भगवत्प्रेम भगवद्धर्मरूप होनेके कारण भगवदात्मक होनेपर भी भगवदनुग्रह या भगवत्कृत प्रदानके बिना जीवात्मामें प्रतिष्ठित हो नहीं पाता. अतः भावके साथ सेवा करनेको भगवन्मूर्तिमें भाव या धर्म की प्रतिष्ठा की जाती है. धर्म धर्मिके बिना तो टिक नहीं सकता अतः मूर्तिमें धर्मिरूप भगवान्का आविर्भाव भी मानना ही चाहिये. स्नेहके आलम्बनविभावमें स्नेहीको अनुराग होता है. भगवन्मूर्तिके बारेमें होनेपर उसे भक्तिका स्थायिभावप्रयुक्त अनुभाव ही जानना चाहिये. ऐसा न माननेपर तो भक्ति मान पाना शक्य नहीं रह जायेगा. महाप्रभुने यह “भक्ति अपना अनुभाव यदि प्रकट नहीं करती तो वह थोथे धर्माचरणका रूप ले कर भक्ति होनेके स्वभावको खो देती है” (त.दी.नि.३।९।२७-२८) यह प्रतिपादन किया है. पुष्टिमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षका निरूपण करनेवाली चतुःश्लोकीमें यथाक्रम प्रमाणप्रमेयसाधनफलका प्रतिपादन भी सुवच होनेसे सर्वभावके साथ की जाती सेवाका जैसे पुष्टिमार्गीय धर्म होना मान्य है, वैसे ही पुष्टिमार्गमें भगवान्के भजनीय स्वरूपके बोधार्थ सेवाका प्रेमरूप या प्रमाणरूप होना भी मान्य है. अतएव प्रेम आसक्ति व्यसन और व्यसनोत्तर फलके द्योतक प्रमाण प्रकरणसे ले कर फलप्रकरण पर्यन्त भगवत्प्राकट्यके निरूपक पद्योंके संलनार्थ “नन्दस्वात्मज... देवकीजठरभूरुद्रराजः” इत्यादि पद्योंमें जैसा भगवान्का स्वरूप निरूपित हुवा है, वैसे स्वरूपका इन पद्योंको पढ़ते समय ध्यान करना चाहिये ऐसी विधि प्रभुचरणने दिखलायी है. यहां कुछ मातृकाओंमें अनुक्त होनेपर भी आद्यन्तके पद्योंके ग्रहणके कारण मध्यपाती प्रमेयसाधनप्रकरणगत पद्योंका ऊह वहां भी किया जाना चाहिये.

श्रीभागवतदशमके सात अध्यायवाले प्रमाणप्रकरण अर्थात् पांचवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्याय तक भगवान्के अलौकिक चरित्में लीलामध्यपाती सभी प्रमाणका अन्वेषण करनेवाले हैं. प्रकट या सुदृढ़ होनेवाली भक्तियुक्त मनोवृत्तिके हेतुवश प्रमाणान्वेषण किये जानेपर अज्ञान या अन्यथाज्ञान के द्वारा भी भगवान्के लीलार्थ गृहीत स्वरूपका बोध एवं आनन्द प्राप्त हो सकता है ऐसा महाप्रभुने “अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुकम्” (त.दी.नि.३।१०।४३) समझाया है.

अपने सेव्यस्वरूपमें अनन्यप्रेमके कारण कुछ ब्रह्मधर्मोंका या परमात्मधर्मोंका या भगवद्धर्मोंका अथवा श्रीकृष्णके अवतारकालिक धर्मोंका भी अज्ञान या अन्यथाज्ञान स्वरूपसेवाके निर्वाहार्थ बहोत बाधक नहीं हो पाता. यहां यह जान

रखने लायक बात है कि भगवत्स्वरूपके या भगवल्लीलाके अज्ञान-अन्यथाज्ञानके कारण प्रकटी भक्ति प्रमाणबलका विचार करनेपर प्रशस्त नहीं होती. अतएव वह न तो उपदेशार्ह होती है और न अभिनन्दनार्ह ही. परन्तु प्रमेयबलके विचारसे तो हमारे लिये कुछ विचारणीय ही बच नहीं जाता. क्योंकि प्रमेयबलके प्रसंगमें युक्तायुक्तका विचार करनेका एकाधिकार भगवान्का ही होता है. फिरभी भक्तिहेतुक भगवत्स्वरूपका या भगवल्लीलाका अज्ञान हो या अन्यथाज्ञान हो, दोनों ही भगवत्सेवामें प्रमाणरूप हो सकते हैं. अतएव प्रभुचरणद्वारा प्रदत्त किशोरावस्थावाले भगवत्स्वरूपकी सेवा करनेवालीको बालकृष्ण स्वरूपका अज्ञान सर्वथा (द्रष्ट.२५२वार्ता.२२३) निर्दुष्ट ही माना गया. इसके विपरीत बालभावना रख कर सेवा करनेवाली दूसरी वृद्धाके ठाकुरने जब बाल्यभावोचित बिल्लीसे डरनेकी शिकायत की तब उन्हें पूतना आदि असुरोंको मारनेकी लीला याद दिलानेवाली बात प्रमाणिक होनेपर भी अपराधरूप मानी गयी (द्रष्ट.२५२वार्ता.८३). अतः सेवामें लीलौपयिक अज्ञान या अन्यथाज्ञान प्रमाणरूप होते हैं. परन्तु लीलासे विपरीत भगवत्स्वरूपका यथार्थज्ञान भी कभी अप्रमाण हो सकता है. अतः प्रमाणप्रकरणीय भगवत्स्वरूपके प्राकट्यका भाव सेव्य भगवन्मूर्ति और स्वयं सेवक यों दोनोंके लिये सेवामें सहायक होता है.

इसके बाद आसक्ति व्यसन और निरोधावस्था या सर्वात्मभाव अवस्थाओंमें भावकी अभिवृद्धिकी आकांक्षासे प्रमेयप्रकरण साधनप्रकरण तथा फलप्रकरण में मिलते पद्योंमें निरूपित लीलाओंकी भावना :

“गायके खुरोंसे उड़नेवाली रजसे सनी घुंघराली अलकोंवाले, मस्तकपर मयूरपिच्छका गुच्छ धारण किये हुवे, वन्यपुष्पोंको भी वहां ठोंस कर रखनेवाले, अपने साथी गोपबालकोंद्वारा बखाने जाते, रुचिर चितवनके साथ मुस्करा कर मुरली बजानेवाले ऐसे श्रीकृष्णके सम्मुख गोपीजन तरसते नयनोंसे दर्शन पानेको दौड़ आयी”, “नटवरूप धारण किये भगवान् मयूरपिच्छोंके गुच्छको अपने केशगुच्छोंमें, कानोंमें कनेरके पुष्पोंको, पीताम्बर तथा वैजयन्ती माला धारण कर, वेणुके रन्ध्रोंको अपनी अधरसुधासे पूरित करते हुवे, उनकी कीर्तिका गान करनेवाले गोपवृन्दोंके साथ वृन्दारण्यमें प्रविष्ट हुवे”, “वनजधातुओंद्वारा विविध आकृतिओंसे चित्रित सांवले श्रीअंगपर सुनहले वस्त्र धारण कर, कण्ठमें वनमाला, केशके जूड़ेमें

मयूरपिच्छका गुच्छ ठोंसे हुवे, वृक्षोंके नवीन कोपलोंसे भी अपनेको सजा कर नटवेष धारण कर एक श्रीहस्त अपने साथी गोपबालकोंके कंधोंपर रख और दूसरे श्रीहस्तसे कमलके पुष्पको नचाते हुवे, कणोंको भी उत्पलसे अलंकृत करनेवाले, घुंघराली अलकोंसे घिरे हंसते मुखारविन्दवाले श्रीकृष्णके बारेमें पहले सुनी हुयी मनोहारिणी सुन्दरताको नयनोंसे निरख कर अपने भीतर ही मनसे उनके साथ लिपट गयीं”, “सहसा उनके बीच कामदेवको भी मथित कर देनेवाले पीताम्बर और वनमाला धारण किये मन्दस्मित करते हुवे भगवान् शौरी प्रकट हो गये”. “गायोंकी खुरोंसे उड़ी रजसे सनी घुंघराली अलकवाले, देवकीरूपा भूमिपर पूर्ण चन्द्रमाके समान उदित होनेवाले, थके-थके से मुखारविन्दकी शोभाद्वारा अपने सुहृदोंको वरदान प्रदान करनेको देखो गोचारण कर श्रीकृष्ण गोकुलमें आ रहे हैं !” .

इन पद्योंको पढ़ते समय सेवाकर्ताके भीतर भक्तिको आसक्तिजनक प्रमेयरूप, व्यसनजनक साधनरूप; तथा, निरोधावस्था या सर्वात्मभाव को फलित करनेवाले फलरूप भगवान्की भावना सेव्यमूर्तिमें करनी चाहिये. ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि इतने ही श्लोक पर्याप्त थे फिर श्रीहरिरायजी तथा श्रीपुरुषोत्तमजी ने अधिक पद्योंका ऊह क्यों किया ? पूर्वाचार्योंद्वारा उपदिष्ट न होनेके कारण तथा स्वोत्प्रेक्षित होनेके कारण भी इन पद्योंको पढ़नेसे सेव्य भगवन्मूर्तिमें अन्यथाभावका दोष प्रसक्त हो सकता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि “ऋषिगणोंको दिव्य लोकोंमें लौटते देख कर मनुष्योंने देवताओंको पूछा ‘अब हमारे बीच ऋषिओंका काम कौन कर पायेगा ?’ इसके समाधानार्थ देवताओंने ऊहरूप तर्कषि उन्हें सोंपे मन्त्रोंके अर्थके चिन्तनकी प्रक्रियामें प्रकट होता अभ्यूह अतः ऋषिवत् प्रमाण होता है. अतः वेदादि शास्त्रवचनोंके व्याख्यानद्वारा जो भी कुछ अभ्यूह किया जाता है, उसे आर्ष ही समझना चाहिये” ( निरु.निघ.१३।१।१२ ) ऐसा कहा गया होनेसे अभ्यूहमें किसी तरहका दोष न होनेपर अभ्यूहितमें दोष क्यों होगा !

इस तरह प्रमेय साधन और फल प्रकरणोंके अन्तर्गत भगवान्के प्रकट होनेके वर्णन करनेवाले भागवतीय पद्योंके आधारपर भावना करनेपर सेव्य भगवन्मूर्ति अपने सेवक भक्तके भीतर भक्तिकी आसक्ति और व्यसन अवस्थाकी उद्दीपक हो पायेगी. ऐसा महाप्रभु भी “अतः अपने भक्तिभावरूप प्रमाणद्वारा श्रीकृष्णको जान लेनेपर श्रीकृष्णका प्रमेयरूप प्रकट हो जानेपर श्रीकृष्णमें आसक्ति वर्णित हो

पाती है. प्रमाण प्रकरणमें सर्वतोऽधिक स्नेह निरूपित हुवा अब प्रमेयप्रकरणमें आसक्ति और साधनप्रकरणमें भक्तिकी व्यसनावस्था निरूपित होती है, चतुर्थ फलप्रकरणमें फलप्राप्ति यों चारों प्रकारसे व्रजजन भगवान्में ही केवल निरुद्ध हो गये” ( त.दी.नि.३।१०।५९-६० ) इन कारिकाओंमें कहते हैं.

१०. इस तरह विविध भावनाओंके साथ सेव्य भगवन्मूर्तिकी पुरुषोत्तमात्मकता सम्पन्न हो जानेपर अग्रिम सेवाके प्रकारका निरूपण :

उसके बाद सुवर्णनिर्मित वेणु और वेत्र और पीताम्बर भी समर्पित करने. यों पुरुषोत्तमात्मकताके प्रकट हो जानेपर अपने सेव्यके बारेमें “ये साक्षाद् भगवान् श्रीगोकुलेश श्रीकृष्ण हैं” ऐसी बुद्धि करनी चाहिये नकि उनके केवल स्वरूप या उनकी जड़मूर्ति या चित्तको एकाग्र बनानेमें उपयोगी प्रतीक आदि होनेकी.

यों प्रमाणप्रमेय साधन और फल चारों तरहके निरोधको सिद्ध करनेवाले भगवत्स्वरूपकी भावना अपने हृदयमें प्रेम आसक्ति व्यसन और सर्वात्मभावरूप फलानुभूतिके साधक होनेकी भी भावनाके द्वारा पुष्ट भगवत्स्वरूपमें भगवान्का साक्षात् प्राकट्य माननेकी भावनाका उपदेश देते हैं उसके बाद सुवर्णनिर्मित वेणु और वेत्र वाक्यांशसे प्रारम्भ कर बीचमें पुरुषोत्तमात्मकताके प्रकट हो जानेपर ऐसा भी निरूपित कर नकि उनके केवल स्वरूप... प्रतीक आदि होनेकी इस वाक्यांश पर्यन्त.

आजकल वैसे अपने मार्गमें सेव्य भगवद्विग्रहके बारेमें उसे भगवान्की मूर्ति माननेकी बुद्धिको निषिद्ध मान कर ‘स्वरूप’ मानने-कहनेका ही प्रचलन है. अतः यहां जिज्ञासा होती है कि सेव्य भगवन्मूर्तिको स्वरूप नहीं माननेके उपदेशकी क्या संगति ? इस विषयका समाधान यह है कि ‘मूर्ति’ नाम मूलमें आकारवाचक होता है. यह “श्रीहरिकी मूर्तिका सदा ध्यान करते रहना चाहिये” ( निरो.लक्ष.१७ ) इस वचनमें स्वयं महाप्रभुने इस पदका प्रयोग किया होनेसे दोष हो जानेकी प्रचलित भीति तो निराधार है. ब्रह्मको व्यापक और साकार “साकारव्यापकत्वात् च” ( त.दी.नि.२।२२९ ) इस वचनमें माना गया होनेसे भी आकारार्थक ‘मूर्ति’पदके

प्रयोगमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं लगती. एतावता केवल भगवदाकारके भजन, अर्थात् साक्षाद् भगवान्का भजन नहीं, ऐसी बुद्धिके निराकरणार्थ ही सेव्य प्रभुका मूर्ति होनेका उल्लेख निषिद्ध है. इसी तरह “स्व(अपना) + रूप(आकृति) = स्वरूप” ऐसे सीमित अर्थमें कि सेव्य भगवान्के रूपके ही सेवा हो रही है साक्षाद् भगवान्की नहीं, ऐसी बुद्धिके निराकरणार्थ प्रभुचरण यहां ऐसा उपदेश दे रहे हैं. इसके कारण “जो स्वयं अपने रूपके साथ हो” ऐसी बुद्धि भगवान्में रख कर किये गये ‘स्वरूप’पदके प्रयोगमें कोई आपत्ति मानी नहीं जा सकती है. अतएव महाप्रभु भी “योग्य गुरुके न मिलनेपर स्वयं ही भगवान्की मूर्तिको अपना सेव्य बना कर परिचर्या सर्वदा करे क्योंकि उस व्यापक ब्रह्मकी तरह उसका रूप भी वहां विद्यमान होता है” (त.दी.नि.२।२२८) इस वचनमें भगवन्मूर्तिमें भगवान्के स्वयं विद्यमान होनेके उपरांत भगवान्के रूपकी विद्यमानताके वाचक ‘भी’ निपातका प्रयोग करते हैं. अतः ब्रह्मदृष्टिसे वह देशकालस्वरूपतो अपरिच्छिन्न परमतत्त्व ही भगवान् श्रीकृष्ण होनेकी दृष्टिसे भक्तानुग्रहशील साकार भी होता है. अतः अपने भजनीयको ‘आकृति’ कहो ‘मूर्ति’ कहो या ‘रूप’ कहो, भक्तोंके द्वारा अनुष्ठित सेवाके अंगीकरणार्थ वह स्वयं भगवद्विग्रहतया प्रकट होता ही है, ऐसी बुद्धि रखनेमें किसी तरहके दोषकी सम्भावनाका लेश भी नहीं. यह ह

“मूर्तिके भगवान् होनेका निरूपण तीन तरह शक्य है ‘वस्तुका विचार करनेपर तो सभी वस्तु भगवद्रूप होती हैं तन्तर्गत मूर्ति भी, ‘फिरभी मूर्तिमें एक विशेषता यह होती है कि सर्वसाधारण वस्तुओंके विपरीत भगवन्मूर्तिमें भगवान्की उद्गारेच्छा और जुड़ जाती है कि ‘इस जीवका उद्धार मुझे इस रूपमें करना है’. सो यहां इच्छाविशिष्ट भगवान् विद्यमान होते हैं जबकि अन्यत्र ऐसी इच्छासे रहित. ‘भक्तिमार्गीय भावोंका अनुसरण करनेको भगवान् अपनी मूर्तिमें बिराज जाते हैं तब जहां मूर्तिका हस्त होता है वहां भगवान् अपने हस्तको भी प्रकट करते हैं. इसी तरह मूर्तिके प्रत्येक अवयवमें भगवान्के प्रत्येक अवयव प्रकट होते हैं. क्योंकि भगवान् व्यापक होनेके साथ-साथ साकार भी हैं. सो यह सहज सम्भव हो जाता है... अब कैसी मूर्तिकी सेवा करनी इस बारेमें कुछ कहना हो तो कहा जाता है कि श्रीकृष्णकी मूर्तिकी. क्योंकि दूसरी देवमूर्तिओंमें सेव्य भगवान् श्रीकृष्ण और सेवक कृष्णभक्त के बीच दो बातोंका अन्तराल रहता है. एक अन्तराल तो जिस देवताके रूपमें भगवान् सृष्टिमें प्रकटे उस देवताका दूसरा उसके रूपका.”

(त.दी.नि.प्र.२।२२९)

यहां ‘वस्तुविचार’ ‘विशेषविचार’ ‘भक्तिविचार’ यों तीन तरहके निकषके आधारपर मूर्तिका भगवान् होना उपपादित किया.

इनमें वस्तुविचारके अनुसार नाम रूप और कर्मों के ब्रह्मतादात्म्यके बोधक पूर्वोदाहृत “उसने सारे रूपोंका विचयन कर उनके तत्तद् नाम निर्धारित कर उन नामोंसे उन रूपोंका निरूपण करने लग गया”, “यही ब्रह्म सारे नामों... रूपों... कर्मों को धारण करता है. अतः ये तीन होनेपर भी आत्माके रूपमें एक होते हैं और आत्मा एक होनेपर भी इन तीन रूपोंमें प्रकट होती है” (चित्युप.१२।७, बृह.उप.१।६।१-३) इत्यादि श्रुतिवचनोंके बलपर सिद्ध होता है.

विशेषविचार श्रीमद्भागवतमें “अव्यय अप्रमेय निर्गुण और गुणात्मा भगवान्का प्रकट होना मनुष्योंके निःश्रेयसार्थ ही होता है. अपना काम क्रोध भय स्नेह ऐक्य अथवा सौहृद जो भी श्रीहरिमें कोई नित्यनियततया जोड़ पाये वह तन्मय हो कर उन्हें पा लेता है, इसमें विस्मयकी कोई बात नहीं है क्योंकि अज योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने किसे मुक्त नहीं किया” (भाग.पुरा.१०।२६।१४-१६) इस तरह निरूपित हुवा है.

इसी तरह भक्तिविचार भी “जो कोई उसकी जिस तरह उपासना करता है वैसा ही रूप वह धारण कर लेता है”, “जो भगवान्के सम्मुख जैसे प्रपन्न होता है भगवान् भी उसे उसी तरहसे भजते हैं”, “भावयोगद्वारा परिभावित अपने हृदयकमलमें स्वरूप-गुण-लीलाओंके श्रवणमार्गसे पधार कर बिराजनेवाले भगवान्की जो कोई जैसी बुद्धि रख कर भावना करता है वैसा स्वरूप उसपर अपने वास्तविक अनुग्रहको प्रकट करने भगवान् धारण कर लेते हैं” (मुद्ग.उप.३।३, भग.गीता.४।११, भाग.पुरा.३।१।११) यों श्रुति गीता एवं भागवतादि शास्त्रोंमें बहुधा प्रतिपादित हुवा ही है.

मूर्तिओंमें भी किस विशेषमूर्तिका आराधनार्थ चयन करना इस बारेमें श्रीकल्याणरायजीने यहां लिखी अपनी टिप्पणीमें “अन्यमूर्तिके भजन करनेपर श्रीकृष्णका सकलमूर्तिओंके भीतर मूलभूत तत्त्व होनेसे श्रीकृष्णके अवतारोंके



मूर्तिओंमें भी विद्यमान रहनेपर भी श्रीकृष्णके अवताररूपोंके भी मूर्तिमें विद्यमान होनेके कारण अन्यमूर्तिमें श्रीकृष्ण अपने मूलरूपके बजाय सृष्टिमें गृहीत दो रूपोंसे व्यवहित हो जाते हैं” (तत्रैव) ऐसा स्पष्टीकरण दिया ही है.

११.फलप्रकरणमें वर्णित भगवत्प्राकट्यके अनुसन्धानके बाद प्रादुर्भूत हुवे रसात्मक स्वरूपको परमफल होनेके रूपमें भावात्मक पाटपर बिराजमान करानेकी भावना:

उसके बाद “भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन पा कर मिले आह्लादके वश गोपीजनोंने अपने हृदयके समस्त शोकतापसे छुटकारा पा लिया. श्रुतियां अपने मूलाभिप्रायके अनुरोधवश ब्रह्मका ही प्रतिपादन निरपवादतया करती हैं. स्वयं ब्रह्म, क्योंकि अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंकी विविधताके साथ प्रकट हुवा है; अतः, श्रुतिओंके गौणाभिप्रायको बहुधा परमाभिप्राय मान लेनेपर उनका मूलाभिप्राय कुण्ठित हो जाता है. अतएव श्रुतिओंमें शोकताप प्रकट हो जाता है. उन्हें किसी तरह पुनः ब्रह्मके साथ समन्वित कर देनेपर श्रुतिओंके मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं. ऐसे ही गोपीजनोंके मनोरथ भी उनके गोणाभिप्रायसे छुटकारा पा कर अन्तस्तम निहित अभिप्रायके अनुरूप पराकाष्ठापन्न रूपमें पूर्ण हो गये. अतः अपने वक्षपर लगे कुंकुमके साथ सम्पर्कमें आनेवाली कसुंभी रंग ली हुयी ओढ़नी अपने आत्मबन्धु भगवान्के लिये आसनके रूपमें गोपीजनोंने बिछा दी.” (भाग.पुरा.१०।२९।१३) इस श्लोकको पढ़ते हुवे सिंहासनको छू कर “रस तो वही है. इसी रसको पा कर ही कोई आनन्दी हो पाता है” (तैत्ति.उप.२।७) इस ऋचाको पढ़ते हुवे “योगिजन जिन भगवान्की कल्पना अपने हृदयासनपर बिराजमान होनेकी करते रहते हैं, ऐसे भगवान् गोपिओंकी परिषद्में पूजित हो कर तीनों लोकोंकी लक्ष्मी या शोभा के एकमात्र आश्रय बन कर साक्षात् वहां बिराज गये.” (भाग.पुरा.१०।२९।१४) इस श्लोकको पढ़ते हुवे ऐसा ही ‘श्रीकृष्ण’ पदार्थ मेरा यह सेव्य स्वरूप है ऐसा ध्यान करते हुवे श्रीकृष्णमूर्तिको सिंहासनपर बिराजमान करना चाहिये.

उसके बाद वाक्यांशसे आरम्भ कर ऐसा ही ‘श्रीकृष्ण’ पदार्थ मेरा यह सेव्य स्वरूप है ऐसा ध्यान करते हुवे श्रीकृष्णमूर्तिको सिंहासनपर बिराजमान करना चाहिये यहां पर्यन्त वाक्यांशमें ‘श्रीकृष्ण’ पदार्थ क्या माना जाना चाहिये?

क्या “परमकाष्ठापन्न वही जब कभी जगत्के उद्धारार्थ अखण्ड-पूर्णरूपेण प्रादुर्भूत होता है तब उसे ‘कृष्ण’ कहा जाता है. यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि उद्धारके साधन तो शास्त्रोंमें पहलेसे प्रतिपादित हैं ही परन्तु उन्हें कर पानेवाले योग्य अधिकारीके अभावमें भगवान् भी प्रकट हो कर क्या कर पायेंगे, क्योंकि भगवान् तो अद्भुतकर्मा हैं. अद्भुतकर्मा होनेसे... असाधनको भी साधन बना सकते हैं” (त.दी.नि.प्र.१।१) इस वचनमें निरूपित आत्मोद्धारके साधनोंकी अपेक्षा रखे बिना भी जिस रूपमें भगवान् जगत्के उद्धारक होते हैं क्या उसे ‘कृष्ण’ पदार्थ मानना?

अथवा “जैसे कोई नट किसी स्त्रीका रूप धारण कर ले तो अकुशल दर्शक उसे जान नहीं पाते कि यह ‘पुरुष’ है. इसी तरह भगवान् भी जब नराकृतिमें प्रकट होते हैं तब कोई उन्हें भगवान्के रूपमें जान नहीं पाता... ऐसी स्थितिमें उनका आविर्भाव ही उपपन्न नहीं हो पाता. क्योंकि सबके बीचमें साक्षात् प्रकट होनेपर भी कोई उन्हें जान न पाता हो तो आविर्भाव निष्प्रयोजन हो जाता है. अतः इस तरह यदि भगवान् आविर्भूत होते हों तो यह भी स्वीकारना चाहिये कि सब उनको जान ही जायेंगे. भगवान् किसीको ठगनेको तो प्रकट होते माने नहीं जा सकते... भगवान् तो भक्तियोगके प्रसारके लिये ही आविर्भूत होते हैं... सुन्दर स्त्रीका कुशल नृत्य यद्यपि सभी देखते हैं परन्तु फिरभी रसानुभूति तो रसिकोंको ही होती है. नपुंसकोंको अथवा स्त्रियोंको नहीं. सुन्दर स्त्रीद्वारा नृत्य किये जानेपर शृंगाररस प्रकट होता है.” (सुबो.१।८।१८-१९) इस वचनमें प्रतिपादित केवल भक्तियोगको प्रकट करनेके प्रयोजनवश अपने-आपको प्रकट करनेवालेको क्या ‘कृष्ण’ पदार्थ मानना?

अथवा “पुष्टिमार्गमें भगवान्के भीतर गूढरूपमें रहनेवाला स्त्री<sup>(शोण्य)</sup>भाव प्रमुख तत्त्व है. ऐसे ‘कृष्ण’ पदार्थकी विवेचना तो शास्त्रोंमें भी अपवादरूपेण कहीं हुयी है, सर्वत्र नहीं.” (सुबो.१०।१८।५) इस तरहका प्रतिपादन जो सुबोधिनीमें मिलता है. तदनुसार स्त्रीभाव अर्थात् भक्तोंके लिये भगवान् भोग्यभावोपेत भी

बन जाते हैं ऐसा दिखलाया है। जैसा कि “जब अपनी शक्तिके रूपमें भगवान् आविर्भूत होते हैं तब अनेकानेक शक्तिओंमें श्रीरूपा शक्ति उनकी प्रमुख होती है। पहले तो वह शारीरिक बलकी शरीरके भीतर ही रहती है पर जब भगवान् प्रभुके रूपमें प्रकट होते हैं तब वह शक्ति भी उनकी भार्याका रूप धारण कर भोग्यतया आविर्भूत हो जाती है... उसे अपना आत्मप्रत्यय तो सच्चिद्रूपा होनेका रहता है परन्तु उसका विग्रह तो ब्रह्मानन्दरूप होता है... वह अक्षरब्रह्मानन्दरूपा होती है... जब भगवान् अपने भोगार्थ जगत्को प्रकट करते हैं तब सभी कुछ लक्ष्मीरूप ही होता है यह बात इससे जतायी गयी। अतः भगवान्के अवतारोंमें जो भी भगवान्की भोग्या नारी होती हैं वे या तो स्वरूपतः अथवा आवेशतः लक्ष्मीरूपा होती हैं” (सुबो. २। १९। १३-१४) इस तरहका प्रतिपादन भी मिलता होनेसे “भक्तोंके दुःखोंको दूर करनेको श्रीकृष्णका अवतरण माना गया है, जिन भक्तोंके पास शास्त्रीय बोध या साधनाचरण की क्षमता नहीं होती ऐसे स्त्री शूद्र या द्विजबन्धुओंके उद्धारक श्रीकृष्ण होते हैं विशेषतः स्त्रियोंके” इन या ऐसे अन्य भी वचनोंमें उपलब्ध होता भगवान्के भीतर विद्यमान जो गूढ़ भोग्यभाव और भक्तोंके भीतर विद्यमान गूढ़ भोक्तृभाव उनका उद्भावक कोई धर्मविशेष क्या ‘कृष्ण’ पदार्थ होता है ?

अथवा जैसा कि भागवतार्थनिबन्धके मंगलाचरणमें “हम उन श्रीकृष्णको नमन करते हैं जो परमानन्दरूप होनेसे सर्वदा सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति और आश्रय रूपा दशविध लीलामें रत रहते हैं। जो सभी भक्तोंके समुद्धारार्थ सर्वदा बिराजमान हैं। यहां ‘कृष्ण’ शब्दके द्वारा उस परम तत्त्वका निरूपण अभिप्रेत है जो कभी-कभी अपने भीतर रहे परम सौन्दर्यको प्रकट करनेकी इच्छासे आकारके साथ प्रादुर्भूत होनेपर ‘श्रीकृष्ण’ कहलाता है। उसकी फलरूपताका ही प्रतिपादन उसे ‘परमानन्दम्’ कह कर किया है। उस परमानन्दको पानेका साधन उसकी स्वरूप गुण और लीला का श्रवण होता है। अतएव वे लीला श्रीभागवतपुराणमें दस तरहकी वर्णित हुयी हैं। अतः उन लीलाओंके विहारीकी भागवतप्रतिपाद्यता समझानेको उसे ‘दशलीलायुत’ कहा जा रहा है। ऐसे विलक्षण अवतारका प्रयोजन ‘सर्वभक्तसमुद्धार’ है...” (त.दी.नि. ३। ११। १) यहां न केवल निरोधरूपा लीलाओंमें अन्तःपाती भक्त प्रत्युत सभी सर्ग विसर्ग आदि लीलाओंमें भी अन्तःपाती भक्तोंका उन-उन लीलाओंद्वारा स्वगत सौन्दर्यको प्रकट करनेवाले भगवान्को ‘श्रीकृष्ण’ पदार्थ कहा जा रहा है क्या ?

इन विविध रूपोंमें महाप्रभुने जो श्रीकृष्णके स्वरूपका प्रतिपादन किया है, उनमें कौनसे प्रतिपादनके अनुसार यहां श्रीकृष्णका स्वरूप प्रतिपादित करना अभिप्रेत मानना चाहिये ? श्रीमदाचार्यचरणने श्रीकृष्णका जिन-जिन रूपोंमें निरूपण किया है उन सभी रूपोंमें उसे स्वीकारना ही उचित लगता है ! क्योंकि -

१. “प्रत्यक्षद्वारा दिखलायी न देनेवाले पदार्थ श्रुतिमें जिस तरह प्रतिपादित हुवे हों उन्हें उसी तरह स्वीकारना उचित है। उनमें कहीं परस्पर विरुद्धता भी झलकती हो तो एक वचनके आधारपर दूसरे वचनकी गौणार्थक होनेकी कल्पना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि दोनों एककोटिके वचन हैं उनमें परस्पर नियम्य-नियामकभाव माना नहीं जा सकता। कोई आधुनिक विचारक भी अपनी बुद्धि चलाना चाहे तो भी श्रौतार्थ निर्धारित करनेको पुनः उसे श्रुतिवचनोंका आश्रय ही तो लेना पड़ेगा... अतः श्रुतिओंके विविध वचनोंमें जैसे अविरोध सिद्ध हो पाये, ऐसा विचार ही ग्राह्य होता है। अतः एक वचनमें निरूपित रूपको प्रामाणिक अपर वचनमें निरूपित रूपको गौण माननेके बजाय, सभी रूपोंको धारण करनेमें उसे समर्थ मानना ही उचित बात है।”

२. “भक्तोंपर अनुग्रह प्रकट करनेको भक्तोंके जैसा रूप/देह भगवान् धारण कर लेते हैं। विसदृश रूप या देह धारण करनेपर भक्तोंके भीतर उनके अपने भगवान् होनेका विश्वास पैदा नहीं हो पायेगा। अतः मनुष्योंपर अनुग्रह करनेको भगवान् मानुष देह प्रकट करते हैं। इसी तरह गोपिकाओंके भीतर विश्वास जगानेको भगवान् गोपकुमार होनेका रूप धारण कर प्रकट हुवे। उनपर अनुग्रह कर निजानन्द गोकुलमें प्रकट किया वैसी क्रीड़ायें भी की। मनुष्यके जिन धर्मोंके भीतर भगवान् प्रविष्ट नहीं होते उन धर्मोंमें रहे दोष भी तब तक निवृत्त नहीं हो पाते।”

३. “दशम स्कन्धके अन्तर्गत आते इस प्रकरणमें लीलान्तःपाती जनकोंका भगवान् किसी भी तरहके साधनकी अपेक्षा रखे बिना अपने प्रमेयबलसे निरोध करना चाहते हैं। लीलान्तःपाती जन लोकमें दशविध होते हैं। अतः भगवान् श्रीहरि भी दशविध हो गये। जगत्में जिसका जैसा भाव होता है उसका उस रीतिसे अनुसरण करनेपर लीलान्तःपाती जन भगवान्में भलीभांति निरुद्ध हो जाते हैं। अन्यथा तो अपनी सांसारिक वृत्तियोंके बन्धनसे उन्हें मुक्ति मिल नहीं सकती।”

इन वचनोंका अभिप्राय भलीभांति विचारनेपर निःशंकतया यह कहा जा सकता है कि जहां जैसी लीलामें जिन भक्तोंके बीच भगवान् अपना जैसा रूप प्रकट करते हैं, वहां वैसी लीलामें उन भक्तोंके बीच भगवान्का वैसा ही रूप वास्तविक होता है। अतः यथोक्त निखिल रूप 'श्रीकृष्ण' पदार्थको स्वीकारना चाहिये। इसमें किसी भी तरहके विरोधाभासका कोई प्रसंग नहीं !

यहां एक आशंका होती है कि “रस तो वही है” – “गोपिकाओंके समूहमें पूजित भगवान् शोभित हो रहे थे” इन पूर्वोल्लिखित वचनों तथा “शृंगाररसमें अन्य सारे रस समाविष्ट हो जाते हैं ऐसा नाट्यशास्त्रका सिद्धान्त है। कुछ रसिक तो अन्य रसोंका रस होना भी मान्य करने उद्यत नहीं... अतः शृंगार रसानुरूप भगवान्के रूप गुण या लीला न होनेपर रसिकोंकी रुचि ही भगवान्में उत्पन्न नहीं हो पायेगी” (सुबो.१०।१८।१२)। इन और ऐसे अन्य वचनोंके आधारपर भजनीय भगवन्मूर्तिकी शृंगाररसके आलम्बनविभावके रूपमें क्यों विभावना नहीं करनी ! भगवान्के विरुद्धधर्मोंके आश्रय होनेकी शपथ खा कर डरानेसे रसिक भक्तोंका कौन सा लाभ मिल सकता है, विशेषतः उन्हें अनभिलषित स्वरूपकी भावनाके उपदेश करनेसे ?

यह सर्वथा अनुचित आशंका है क्योंकि चतुःश्लोकीमें “ब्रजाधिप सर्वदा सर्वभावोंके साथ भजनीय होते हैं” (च.श्लो.१) इस महाप्रभुके उपदेशसे विरोध उठ खड़ा होगा। ऐसा भी कहा नहीं जा सकता कि इस वचनमें भी शृंगाररसात्मक सर्वात्मभावका ही उपदेश है, जैसाकि गोपीगीतमें प्रतिपादित हुवा है “अपने पति पुत्र और सुहृदोंकी अनुवृत्ति स्त्रियोंका स्वधर्म होता है ऐसी बात जो धर्मके वेत्ता भगवान्ने कही वह तो ठीक ही है। क्योंकि ऐसा उपदेश देनेवाले स्वयं भगवान् सभी देहधारियोंके ईश्वर प्रियतम बन्धु और आत्मा होनेसे भगवान् ही अनुसरणीय होते हैं... अतएव जो अध्यात्मकुशल होते हैं वे तो अपने नित्यप्रिय आत्मरूप भगवान्में ही रति करते हैं। क्योंकि आर्ति प्रदान करनेवाले पति पुत्र आदिको चाहनेसे लाभ क्या हो सकता है !” (भाग.पुरा.१०।२६।३२-३३) इस वचनमें शृंगाररसात्मक सर्वात्मभाव स्वीकारा गया है और वह यहां चतुःश्लोकीमें विवक्षित मान लेनेमें

आपत्ति क्या है ? सबसे बड़ी आपत्ति यही आयेगी कि भगवान्के प्रति वात्सल्य आदि भावनाओंसे भरी भगवान्को पलनेमें झुलानेकी सेवामें रसाभास प्रकट होगा। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि वात्सल्यरसकी विभावनामें भी “इतनी लम्बी अवधि तक हम इसी आशाके साथ जीवित रही थी कि भगवान्का संयोगसुख हमें मिलेगा, भगवान्के वपुमें बचपना लगता है परन्तु नयन तो शृंगाररसमें मत्त मानिनिओंके मानका हरण करनेवाले हैं” (पर्यकार्या.२) इस तरह बाल्यावस्थामें पलनेमें पौढ़े भगवान्के बालरूपका वर्णन मिलता होनेसे रसाभासकी शंका व्यर्थ है। अतः सेव्य भगवन्मूर्तिको भी शृंगाररसरूप या शृंगाररसके आलम्बनविभाव के रूपमें मान्य करना चाहिये। यहां यह अवधेय है कि किसी भक्तविशेषकी ऐसी विभावनाके उद्गारको सुन कर हमारा या हर किसीका ऐसी विभावनाका अधिकार मान्य नहीं हो पाता। जिन भक्तोंकी वाणीमें ऐसे उद्गार प्रकट हुवे उनका वैसा अधिकार होगा, सो उन्हें छूट भी मिल सकती है। एतावता सभीके लिये वैसी छूट दी जा सकती होती तो प्रभुचरण “प्रार्थना करता हूं कि जो कामवर्जित रसिक हों वे तो मेरी कृतिका यथेच्छ अहर्निश अवगाहन करें। इस रसके अनभिज्ञ होनेपर तो कोई वैष्णव हो तब भी इसे देखनेका प्रयास न करे” (शृंगा.र.मण्ड.) इस तरहका निषेध नहीं करते।

“शृंगाररसमें ही सारे रसोंका अन्तर्भाव होता है” यह विधान भी उपपन्न नहीं होता। क्योंकि “रस तो वही है” यह श्रुति भी रसमात्रके ब्रह्म होनेका प्रतिपादन कर रही है या ब्रह्मके रसरूप होनेका ? यदि रसमात्रके ब्रह्म होनेका प्रतिपादन मानते हैं तो रसका लौकिकरस और अलौकिकरस ऐसा विभाजन ही शक्य नहीं रह जायेगा। तब तो रसात्मिका भगवल्लीलाकी तरह रसात्मिका किसी लौकिक प्रेमी-प्रियतमा या प्रेमिका-प्रियतम की प्रणयलीलाके अवगाहनसे आत्मोद्धार सुलभ मानना पड़ेगा। अब ब्रह्मको केवल रसात्मक माननेपर तो रसके निष्पादक आलम्बन/उद्दीपन विभाव, अनुभाव या सञ्चरिभावोंको अब्रह्मात्मक मानना पड़ेगा। तब तो ब्रह्माद्वैतकी हानि होगी। उन्हें भी ब्रह्मरूप माननेपर ब्रह्म किसी रूपमें रस होता है तो अन्य रसव्यतिरिक्त रूपोंमें भी वही प्रकट हुवा है, ऐसा माने बिना कोई गति बच नहीं जाती। ब्रह्मशास्त्रकी दृष्टिसे “उस परम अव्ययमें सभी कुछ एकीभूत रहते हैं” (मुण्ड.उप.३।२।७) ऐसी श्रुतिमें ब्रह्मभावमें भी तो अन्य सभी भावोंका समावेश स्वीकारा ही गया है। रस अभावरूप तो नहीं सकता। “परम तत्त्वरूप भगवान्में ये विविध नाम रूप गुण कर्म आदि सभी कुछ लीन रहते

हैं. जैसे नदियां सागरमें; अथवा, पुष्पोंके विविध रूप-रस-गन्ध-स्पर्श जैसे मधुमें लीन हो जाते हैं” (भाग.पुरा.१०।८४।३१) इस न्यायके अनुसार ब्रह्ममें न केवल विविध स्थायिभावात्मक रस प्रत्युत आलम्बनविभाव उद्दीपनविभाव अनुभाव या सञ्चारिभाव आदि सभी कुछ लीन रहते हैं. उक्त या अनुक्त और वाणीके अगोचर भी सारे विषय वहीं अन्तर्लीन रहते हैं. अतः सर्वप्रथमतया तो भगवन्मूर्तिमें ब्रह्मभावना ही प्रशस्त होती है. और वही ब्रह्मभावना स्वयं भगत्सेवाकर्ताको अपने बारेमें भी करनी या रखनी चाहिये.

यही बात भगवान्ने “ब्रह्मसम्बन्ध करनेसे सभीके देह और जीव में रहे सभी तरहके दोष निवृत्त हो जाते हैं” (सिद्धा.रह.२) उपदेशमें कही है. उसके बाद सच्चिदानन्दरूप अंशी परमात्मामेंसे चिदंशभूत अपना व्युच्चरण और तत्प्रयुक्त तापक्लेशानन्दके तिरोभावके अनुसन्धान द्वारा भजनीय भगवद्विग्रहके परमात्मा होनेकी भावना भी करनी चाहिये. उसके बाद “भगवान् कृष्ण” जिन्हें अपनी आत्मा और आत्मीय सकल पदार्थोंका समर्पण करना है उनकी सेव्यमूर्तिके बारेमें समर्पणके सम्प्रदान होनेकी भावना भी. अर्थात् साक्षात् कृष्ण होनेकी भावना करनी चाहिये. सेवाके बिना किया गया समर्पण निरर्थक वागाडम्बर होनेसे समर्पणको सार्थक बनानेवाली सेवाके हेतु “मैं दास हूँ” और यह भगवत्स्वरूप “मेरे स्वामी हैं” ऐसी भावना प्रसक्त होती है. तब जा कर “मैं तुम्हारा हूँ” इन पदोंद्वारा प्रकट की जाती सख्यभावना आती है. सख्यभावके बाद समारब्ध कृष्णसेवामें ब्रजके गोपीगोपबालकोंके भावोंकी भावना वात्सल्य शृंगार आदिकी भावना अपने हृदयमें दोहरानेपर “सर्वदा सर्वभावके साथ ब्रजाधिप भजनीय होते हैं” इस उपदेशका अनुसरण शक्य हो पायेगा. अन्यथा केवल शृंगारसात्मकताके अनुसन्धानके कारण तो शृंगाररसाभास ही वज्रलेपायित होगा. क्योंकि जिस रसशास्त्रकी दुहाई दे कर शृंगाररसमें सर्वरसोंका अन्तर्भाव या श्रेष्ठता सिद्ध की जा रही है उस रसशास्त्रके अनुसार देवादिके बारेमें रतिको शृंगाररसरूपा माना नहीं जाता. तिसपर भी जड़ पदार्थोंसे निर्मित भगवन्मूर्तिके बारेमें सचेतन स्त्री या पुरुष का शृंगारभाव तो केवल रसाभास ही होता है. जैसा कि विश्वनाथ कहते हैं “उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च बहुनायकनिष्ठायां रतौ तथा अनुभयनिष्ठायां प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्गद अधमतिर्यगादिगते शृंगारानौचित्यम्” (साहि.दर्प.३।२६३-६४). देवमूर्तिकी जड़रूपताके परिहारार्थ ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण की भावना करनेपर रसभावके औचित्यका प्रसंग उपस्थित होता होनेसे केवल

शृंगारसात्मकता तो केवल “मम माता व्रध्या” वत् निरर्थक शब्दावली सिद्ध होती है. अस्तु, इन तथ्योंके बुद्धिगत कर लेनेपर भक्ति भक्तविशेषके लिये शृंगारसात्मिका हो पाती है. भक्तिभावका ही महाप्रभु निरोधकी फलावस्थामें विकास शक्य मानते हैं. नवमस्कन्धमें वर्णित भक्तिवालोंकी प्रपञ्चमेंसे आसक्ति छुड़ा कर अपनेमें उसे निरुद्ध करनेको की जाती लीला दशम स्कन्धमें विवक्षित है (द्रष्ट. : त.दी.नि.३।१०।१६). अतः उस निरोधके विकसनार्थ कि “जिससे बढ़ कर न कोई मन्त्र न स्तव न विद्या और न तीर्थ ही हो सकते हैं” (निरो.लक्ष२०) भक्तिकी ऐसी निरोधरूपताकी सिद्धि “श्रीनन्दयशोदा और गोपिकाओंको गोकुलमें भगवान्के गोचारणार्थ वृन्दावन जानेपर जैसा विरहजन्य दुःख होता था वह दुःख मुझे कब होगा ! गोकुलमें गोपिकाओं और सभी ब्रजवासियोंको गोचारण कर लौटनेके बाद भगवान्की सेवामें जैसा सुख मिलता था वैसा भगवान् मुझे भी क्या कभी देंगे !” (निरो.लक्ष.१-२) ऐसी सेवाके अवसर और अनवसर में भावनीय भक्तिरसके सञ्चारिभावरूप सुखदुःखोंका केवल शृंगाररसमें ही पर्यवसान कह पाना बहोत संगत बात नहीं लगती.

यह तो बहुत गम्भीर विषय है जो न केवल शास्त्रैकगम्य है और न स्वैरभावैकगम्य. क्योंकि भक्त ज्ञानी द्वेषी मूढ़ आदि विविध जीवोंके भावोंका भगवान् अनुसरण करते हैं, यह शास्त्रके आधारपर तो प्रमाणित हो सकता है; अन्यथा अकल्प्य कथा ही है. इसी तरह शास्त्रद्वारा प्रमाणित भी किन रूपोंमें से कौन से भगवान्के रूपको आराध्य बनाया जा सकता है, कौनसा भक्तके भावोंको सन्तोषप्रद हो सकता है, यह तो निजहृदयके भावैकगम्य होता है. यह बात भाष्यकारने भी कही है :

“‘रस तो वही है’ इस श्रुतिके आधारपर तथा ‘वह सर्वरसरूप है’ इस श्रुतिके आधारपर ब्रह्मकी सर्वरसात्मकता निश्चित होती है. अतः जिस रसके जो विभाव अनुभाव आदि होते हैं उनसे वह रस निष्पन्न होता है. तानेबानोंके किसी पटके रूपमें निष्पन्न होनेकी तरह. अतः रसका उन अपने निष्पादक भावोंके साथ तादात्म्य होना तथा उन सभीके साथ अभेद माननेमें भी कोई दोष नहीं.”

(ब्र.सू.भा.३।३।१०)

यदि इस तरह सभीके साथ अभेद मानते हैं तब तो पुष्टिमार्गमें भक्तिमें अन्यासक्ति या प्रपत्तिमें अन्याश्रय को भी दोषरूप नहीं मानना चाहिये फिर “अन्य किसी देवका शास्त्रनियत कर्तव्य न हो तब भी भजन करना, अथवा शास्त्रनियत दर्शन न हो तब भी दर्शनार्थ जाना, अथवा निजकामनाके आधीन किसी तरहकी प्रार्थना अन्याश्रय दोष होनेसे नहीं करनी चाहिये” (वि.धै.आ.१४) इस तरहका उपदेश भी अप्रासंगिक हो जायेगा ! इस तरहकी शंका व्यर्थ है, क्योंकि इस सारे विषयको भलीभांति समझनेके लिये कुछ वचन यथापेक्षित अनुक्रममें ब्रह्मसूत्रभाष्यसे उद्धृत करना चाहेंगे—

“ब्रह्मका एकरस होना जैसे श्रुतिके बलपर स्वीकारा जाता है, उसी तरह ब्रह्मका विरुद्धधर्माश्रय होना भी. ब्रह्म तो श्रौत पदार्थ होनेसे जैसा भी श्रुतिओंमें निरूपित किया जाता है वैसे अंगीकार कर लेना चाहिये” (ब्र.सू.भा.३।३।६).

“विविध उपासनाओंका फल ब्रह्मविज्ञान है. ब्रह्म तो एक ही तरहका होनेसे घड़ेकी तरह निर्माणार्थ अपेक्षित जो भी सामग्री हो उससे जाना जा सकता है... अतः अपनी-अपनी शाखाओंमें निरूपित रीतिओंके अनुसार उपासना करनेका सभीको अधिकार है. अतः तदनुसार ब्रह्मविज्ञान भी होता है... ब्रह्मके ऐक्यके कारण किसी रीतिकी उपासनासे प्रकटा ज्ञान ही ब्रह्मविज्ञान होता है. पृथ्वी जो रूप रस गन्ध आदि गुणोंवाली है, उसका पुरुषभेदवश अथवा किसी एक ही पुरुषको जैसा जिस तरहका भूविज्ञान होता है उसे भूविज्ञान नहीं मानना, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता. अतः ब्रह्ममें अनन्त धर्मोंका होना सिद्ध होता है” (ब्र.सू.भा.३।३।३).

“इस तरह जैसे अधिकारीको जैसा रूप ब्रह्मका अवगत होना चाहिये उस रूपमें श्रुति उसे समझाती है... भक्तिप्रकरणमें भक्तिके बहुविध होनेसे जैसे भक्तोंको जैसा ब्रह्म अनुभूत होता है, वैसा उसे निरूपित किया गया है” (ब्र.सू.भा.३।३।७).

“अनेकविध उपासनाओंके अनेकविध विषयोंमें सभीका ब्रह्म होना अविशिष्ट होता है. इस रहस्यको जान कर उनमें एकतर रूपकी जो उपासना करता है, उसे अपने उपास्य रूपमें अन्य सभी गुणोंका उपसंहार करना उचित होता है. पर जो अनन्त विभूतिरूपोंमें... (किसी एकको) ब्रह्म मान

कर उपासना करता हो उसे दूसरी शाखाओंमें उस तरहकी उपासनाके प्रकरणमें कहे गये ब्रह्मके गुणोंका उपसंहार अपने विभूतिरूपमें करने चाहिये... अन्य उपासनाप्रकरणोंमें निरूपित ब्रह्मके गुणोंके नहीं. क्योंकि वे गुणधर्म उस विभूतिरूपको अनुलक्षित करके ही कहे नहीं गये हैं” (ब्र.सू.भा.३।३।२).

“ब्रह्मके सभी रूपोंमें आपसमें सभी गुणधर्मोंका उपसंहार प्राप्त होता है परन्तु वह तो ऐकान्तिक भक्तोंके अनुभवसे विरुद्ध है. अतः इस विषयमें व्यवस्थित विकल्पका विधान करना चाहते हैं... सभी अवतारोंमें जिसकी बुद्धि साधारण हो वह सर्वत्र सभी धर्मोंका उपसंहार कर सकता है. जो परन्तु एकान्ती भक्त होता है उसे अपने असाधारणके स्नेहके कारण किसी एक रूपमें भगवान्को भजनेका भावाग्रह होता है. अतः रूपान्तर उसके अन्तःकरणारूढ नहीं हो पाता. अतएव उसे अन्यान्य रूपोंमें प्रकट होनेवाले ब्रह्मके गुणधर्मोंका अपने उपास्य रूपमें उपसंहार करना आवश्यक नहीं. अतः उपसंहारकी सम्भावना भी नहीं रह जाती” (ब्र.सू.भा.३।३।७).

“प्रकृत सन्दर्भमें भी ब्रह्मके जिस रूपकी उपासनाके प्रकरणमें जितने धर्म उपदिष्ट हुवे, उस रूपमें उतने ही धर्म होनेकी उपासना करनी उचित होती है. क्योंकि उस रूपकी उपासनाके प्रकरणमें उतने ही रूप दिये गये हैं, रूपान्तरकी उपासनाके प्रकरणमें कहे गये धर्मोंको नहीं. अ- न्यथा मत्स्यावतारके उपासकको धनुष-बाण धारण किये मत्स्यरूप भगवान्की कल्पना करनी पड़ेगी और नराकृतिवाले अवतारोंमें लक्षयोजन लंबे सींग आदिकी !” (ब्र.सू.भा.३।३।३).

“जगत्को ब्रह्मरूप जानना अच्छी बात है परन्तु ब्रह्मका तो जगत्से व्यतिरिक्त रूप भी है. अतः ब्रह्मरूप जान कर जगत्में आसक्ति नहीं करनी चाहिये. किसी भी एक पदार्थमें सर्वलीलाओंके सहितो भगवान् तो विद्यमान रहते हैं, देश काल और वस्तु रूपी हो कर भी वे देश काल और वस्तु से व्यतिरिक्त भी होते हैं” (सुबो.२।९।३५).

“सभी देवता प्रकृतिके भीतर प्रकट हुवे हैं, काल कर्म स्वभाव प्रकृति और पुरुष का आधारभूत अक्षर ब्रह्म भी गणितानन्दकी तरह होता है. अतः पूर्णानन्द होनेके कारण भक्तकी गति तो केवल श्रीहरि ही हैं” (कृष्णा.स्तो.८).

इससे ब्रह्मके स्वरूपतः एकरस होनेपर भी लीलामें विरुद्धधर्माश्रयताके प्रस्फुटनके



कारण अनेकरसता भी विरुद्ध नहीं होती. अतएव पुष्टि आदि सृष्टिके विभेद, तत्तद् मार्गिके विभेद, तत्तद् जन्म आदि के अनुरूप तत्तद्रूपोंके आविष्करणद्वारा एक ही परम तत्त्वकी अनेकविध आराधना सम्भव बन जाती हैं. अतः स्वस्वरूप स्वमार्गस्वरूप स्वजन्मस्वरूप स्वेष्टभगवत्स्वरूप आदिके विवेकद्वारा ही सभी गुणधर्मरूपलीलाओंमें विहरनेवाले भगवान्के यथोचित गुणधर्मरूपलीलाओंका ही निज आराध्य भगवत्स्वरूपमें उपसंहार करना उचित होता है. दैत्य दानव गर्दभ कीट आदि रूपोंमें प्रकट तो भगवान् ही हुवे हैं. एतावता इन रूपोंमें भगवान्को आराधनीय नहीं बनाया जा सकता. क्योंकि किसी वारवधूके बारेमें भोगवासनासे ग्रस्त कामुक पुरुषकी वारवधूमें परमात्मबुद्धि सात्त्विकी या मुक्तिप्रदायिनी मति नहीं मानी जा सकती. वह तो अधोगतिकारिणी तामसी मति ही मानी जायेगी! यह सर्वथा उपपन्न कथा होनेपर भी विषयवासनासे रहित त्रिगुणातीत ब्रह्मदर्शन कर पानेवालेकी वारवधूमें भी ब्रह्मबुद्धि हो तो किसी प्रकारका दोष माना नहीं जा सकता है. इसी तरह निखिल वस्तुओंमें ब्रह्मके तादात्म्यको जान कर एक किसी भजनीय विग्रहमें ऐकान्तिक श्रद्धा-अनुरागवाले भावुकको परिमित उपाधिबुद्धिका परित्याग कर अपरिमितब्रह्मबुद्धिमें; अथवा इतरोपाधिमें प्रकटित ब्रह्मधर्मोंके चिन्तन करनेपर स्वयंकी भक्तिमें, कोई चमत्कृति प्रकट नहीं हो पाती! अपने ससुरके रूपगुणधर्मवाले अपने पतिमें किसी पत्नीकी श्वशुरबुद्धिसे अभेदभावना दाम्पत्यमें उपकारिणी हो नहीं पाती. अतः “पिता स्वयं ही पुत्ररूपेण पुनः जन्म लेता है” इस न्यायके अनुसार उनके अभिन्न होनेपर भी पत्नीका अपने पति और ससुर के बारेमें भेदभावना ही उचित होती है. अतः भक्तोंके लिये भी अभेदबुद्धिपूर्विका भेदघटितस्नेहभावना ही उपकारिणी होती है. अतः ऐकान्तिकी भक्तिमें अन्यासक्ति एवं अन्याश्रय दोषरूप माने जाते हैं.

एक शंका यह की जा सकती है कि “गोविन्दकी एकान्तभक्ति सर्वत्र गोविन्दके दर्शन करना है” (भाग.पुरा.७।७।५५) इस वचनसे यह निरूपण विरुद्ध जाता सा लगता है परन्तु गोविन्दके सर्वत्र दर्शन और उस दर्शनके कारण किये जाते भजन के बीच जो सूक्ष्म विभाजकरेखा है उसे देख न पानेसे ऐसी शंका उठती है. यदि कहा जाये कि श्रीकृष्णकी ऐकान्तकी भक्तिके हठाग्रह करनेपर वस्तुमात्रके ब्रह्मतादात्म्यका प्रतिपादन करनेवाले श्रुतिवचनोंका विरोध उठ खड़ा होगा, तो अक्षरब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेको की जाती ज्ञानोपासनामें ऐसा भाव अवश्य ही

विरुद्ध होनेपर भी भगवद्भक्तिरूपा उपासनामें किसी तरहका विरोध नहीं माना जाता. वस्तुतः तो ज्ञानोपासनौपयिक स्वरूपके निरूपणमें भी साधनदशामें तो सभी अपरोक्ष वस्तुओंको उद्देश्य बना कर उनकी परोक्ष ब्रह्मात्मकताका ही विधान ही श्रुति करती है. नकि परोक्ष ब्रह्मको उद्देश्य बना कर उसकी अपरोक्ष सर्वरूपता. यह प्रस्तुत वचन “यह सभी कुछ आत्मा ही है” (छान्दो.उप.७।२६।२) जैसे वचनोंमें दिखलाया गया है. यही तो माहात्म्यज्ञान है जो भक्तिमें उपकारक एवं उसका पूर्वांग होनेके रूपमें अपेक्षित होता है. उत्तरांग तो भक्तिका सुदृढ़ सर्वतोऽधिकः स्नेह ही होता है. वही पुनः लौकिक विषयक हो तो श्रुति कहती है कि “एक वस्तु दूसरी वस्तुमें प्रतिष्ठित होती है” (छान्दो.उप.७।२६।२४) इसमें हम देख सकते हैं कि आलम्बनविभाव और स्थायिभाव के बीच भेद घटित हो जाता है. यह स्नेह, परन्तु, जब ब्रह्म परमात्मा भगवान् को अपना विषय बनाता है तब, आलम्बनविभाव स्थायिभाव और उसके अनुभवकर्ता के बीच तत्त्वतः अभेद और केवल लीलार्थ भेदसे घटित होनेके कारण श्रुति कह देती है “वह तो महिमामें ही प्रतिष्ठित रहता है” (तत्रैव). अतः यह अभेदघटित होते भक्तिभावमें ब्रह्मके भेदलीलाकी इच्छाके अनुरोधवश आहार्य भेदका घटक बन जाता है. “वह अक्षर ब्रह्म मेरा परम धाम है” (भग.गीता.१५।६) ऐसा गीतोपदिष्ट अक्षरब्रह्म ही यहां ‘अपनी महिमा’ पदद्वारा अभिहित हुवा है, ऐसा भाष्यमें प्रतिपादित किया गया है.

सर्वनिर्णयनिबन्धके प्रकाशमें भी “वस्तुतः तो अक्षरब्रह्म आनन्दमय ही होता है... पुरुषोत्तमसे भिन्नतया अवस्थित नहीं किन्तु निरन्तराल अवस्थित रहता है... मूलभूत पुरुषोत्तमसे विच्छिन्न हो कर नहीं प्रत्युत अविच्छिन्न ही. कभी जब पुरुषोत्तम आविर्भूत होते हैं तब अक्षरब्रह्म भी बहुधा आविर्भूत होता है. वह प्रभु बन कर प्रादुर्भूत होते हैं तब लोकके रूपमें अक्षरब्रह्म प्रतीत होने लगता है. प्रभु वैकुण्ठवासी और लोक अर्थात् वैकुण्ठमें जीव-जड़के आकारमें भी वह प्रादुर्भूत हो जाता है... ज्ञानमार्गमें यही उपास्य एवं ज्ञेय होता है परन्तु भक्तिमार्गीयके लिये सेव्य श्रीकृष्ण अक्षरब्रह्मसे उत्तम होते हैं” (त.दी.नि.प्र.२।१००-१०४) ऐसा प्रतिपादन महाप्रभुने किया है.

यहां श्रीकृष्णमूर्तिको सिंहासनपर बिराजमान करना चाहिये ऐसा जो कहा गया वह उस सिंहासनकी अक्षरब्रह्मतया भावना करनेको कहा गया है. पुरुषोत्तमके

बिराजनेके लिये, क्योंकि, उसकी अपनी व्यापकताके अलावा अर्थात् अक्षरब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य कुछ उपवेशनार्ह नहीं होता. अतः मूर्तिमें पुरुषोत्तमके आविर्भूत होनेपर सिंहासनमें आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उभयविध अक्षरब्रह्मात्मकताके अनुसन्धानार्थ कहते हैं “अपनी ओढ़नी अपने आत्मबन्धु भगवान्के लिये आसनके रूपमें गोपीजनोंने बिछा दी” इस श्लोकको पढ़ते हुवे सिंहासनको छू कर “रस तो वही होता है. इसी रसको पा कर ही कोई आनन्दी हो पाता है” इस ऋचा और “योगिजन जिन भगवान्की कल्पना अपने हृदयासनपर बिराजमान होनेकी करते रहते हैं... साक्षात् बिराज गये” इस श्लोकको पढ़ते हुवे यह वाक्यांश.

यहां आशय यों है कि लौकिक रसोंको बाहर प्रकट होना हो तो अपनेसे व्यतिरिक्त बाह्य आधारकी अपेक्षा रहती है परन्तु भगवान्को उस तरह अपनेसे व्यतिरिक्त बाह्य किसी आधारकी अपेक्षा नहीं रहती. यह बात “ब्रह्मज्ञानी परको प्राप्त करता है. यह इस तरह व्याख्यात हुवा है कि ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप होता है. जो उसे इस रूपमें अपनी हृदयगुहाके भीतर निहित जान पाता है वह वहीं परम व्योममें सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ सारी कामनाओंको पूर्ण कर लेता है” (तैत्ति.उप.२।१) इस वचनकी विवेचनामें ब्रह्मसूत्राणुभाष्य (१।१।११-१८) में समझायी गयी है.

१२.सेव्यका सेवकमें और सेवकका सेव्यमें परस्पर प्रमाण प्रमेय साधन और फल रूपी निरोधात्मक सेवन :

उसके बाद चरणारविन्दोंमें तुलसीदल बड़े कर स्वयं लेने चाहिये और पुनः दूसरे तुलसीदल समर्पित करने चाहिये. धूप-दीप कर के बालभोगसे ले कर राजभोग और उत्सवभोग भी समर्पित करने चाहिये. भोग धर लेनेपर उन्हें सरा कर आचमन-मुखवस्त्र करा कर पानकी बीड़ी वेणु-वेत्र धरा कर चूनका दीपदान बना कर उससे आरती करनी चाहिये-

अतः प्रपञ्चको भूल कर भगवान्में हमारी आसक्तिरूपा भक्ति जुड़ जाये एतदर्थ इस तरह प्रतिष्ठापित पुरुषोत्तमकी सेवाका उपदेश देते हैं उसके बाद

चरणारविन्दोंमेंसे तुलसीदल बड़े कर यहांसे ले कर चूनका दीपदान बना कर उसमें आरती करनी चाहिये यहां तक.

वेदमें आता है कि “वह सभीका भर्ता है उसके भरण करनेवालेका वह भरण करता है” (तैत्ति.आर.३।१४।१). भगवान् तुलसीपत्रोंकी माला अपने हृदयपर और अपने चरणकमलोंमें तुलसीदलों को धारण करते हैं. भक्तिमार्गमें यह निश्चित ही उसका असाधारण माहात्म्य है. यह बात महाप्रभुने “तुलसिका भगवान्का आभरण है... तुलसी लक्ष्मीकी तरह अमृतोदधिमेंसे प्रकट हुयी है... भक्तिमार्गमें तो उसका माहात्म्य सर्वतो अधिक मान्य है” (सुबो.३।१५।१९) कही है. अतः भर्तारूप भगवान् अपने आभरणके रूपमें तुलसिकाकी तरह जिन जीवोंको अपने हृदयपर धारण करना चाहते हैं वे ही भगवान्के बारेमें सहज स्वामी होनेके भावको धारण कर पाते हैं. भगवान्के चरणारविन्दके सेवक हो पाते हैं. “वह जिनका वरण करता है वे ही उसका वरण कर पाने समर्थ हो पाते हैं. उन्हीं जीवात्माओंके सम्मुख यह परमात्मा अपने स्वरूपका विवरण करता है” (मुण्ड.उप.३।१२।३) इस श्रुतिके अनुसार सर्वसम परमात्मा भी लीलया जब अपने अंशोंमेंसे किसीका विशेष वरण करता है तभी अपने स्वरूपका उसके सम्मुख विवरण प्रकट करता है. पुष्टिकर्ता होनेके रूपमें भगवान्का भक्तमें साधनरूप निरोध पहले सिद्ध होता है. इस साधनभूत निरोधके कारण फलात्मक निरोध, अर्थात् भक्तका प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्त हो जाना माना गया है. एतदर्थ ही आचार्यचरण कहते हैं-

“जो जैसा होना चाहते हों उन्हें वैसा होने दो. हमें तो सर्वभावके साथ भगवान्को भजना है. देहसे आरम्भ कर जितने भी भजनीय हो सकते हैं, ऐहिक या पारलौकिक जो भी साधन होते हैं, उनके द्वारा जिन-जिन भावोंसे जिसे भजा जा सकता है, वे सारे भाव भगवान्में करने चाहिये... ‘भगवान् ही सब कुछ करते हैं’ यह कहा जाता है पर भजनके बिना तो कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता. अतः भजन तो अवश्य करना चाहिये.”

(सुबो.३।३२।२२).

इससे जीवात्माके फलात्मक निरोधका प्रतिपादन ही किया गया है. जब सारे

भाव अपने आराध्य भगवान्‌में निरुद्ध हो पाते हैं तभी जीव उनके उद्दीपक विषयोंको भूल पाता है. यों भक्त और भगवान्‌ दोनोंके एक-दूजेमें निरुद्ध हो जानेपर भक्तिकी कोई परमकाष्ठापन्न अवस्था विकसित हो जाती है. अतएव सेवाभावनाके पद्योंमें कहा गया है कि “हे भगवन्‌! आपको प्रिय गन्धवाली जो तुलसी है उससे मैंने आपका पूजन किया सो आप प्रसन्न हो जाओ. आप तो निष्किञ्चनोंके स्वामी हो और इससे अधिक कुछ करनेको मैं समर्थ नहीं हूँ” (रश्मि.परि.६८).

यहां यह अवधेय है कि वस्तुमात्र यदि ब्रह्मात्मक हो तब किसी या कैसी भी वस्तुका समर्पण ब्रह्मको किये जानेपर एक परम अकिञ्चनता हृदयमें उभरती है. अतएव कहा गया है कि “यह निजानन्दके लाभसे परिपूर्ण करुणाशील प्रभु अज्ञानी जनोंसे अपनेलिये सम्मान/पूजाकी अपेक्षा नहीं रखते हैं. फिरभी जो कोई भक्त भगवान्‌के प्रति कोई सम्मान या पूजन करता है, वह तो स्वयंके मुखकी शोभा जैसे दर्पणगत अपने प्रतिबिम्बके मुखकी शोभा बढ़ाती है, वैसे ही निजानन्दका भजनानन्दरूप केवल प्रतिबिम्ब है” (भाग.पुरा.७।९।११).

कहां निरतिशय दिव्य यह अकिञ्चनता और कहां अधुना दिखलायी जाती आसुरी अकिञ्चनता कि -

“हम भगवान्‌की क्या सेवा कर सकते हैं? दर्शन करने आनेवाले भक्तोंसे भगवत्सेवाके लिये याचना तो हमारे भीतर हम सेवा कर रहे हैं ऐसा अहंकारको घटानेको ही है. अतः सेवाके ऐसे प्रकारमें तो हमारा सच्चा दैन्य और सच्ची अकिञ्चनता प्रकट होती है. इसे दरिद्रता नहीं प्रत्युत आत्माके भीतर सच्ची ब्रह्मात्मकताकी समृद्धि माननी चाहिये. हम तो केवल तुलसीपत्रोंमें प्रकट होती निष्किञ्चनताकी सुगन्ध जो भगवान्‌को अतिशय प्रिय है वही समर्पित कर सकते हैं!”

इस बातकी सचाई तो तभी परखी जा सकती है कि इस तरहके भक्तिके बहाने बना कर व्यावसायिक भगवत्सेवा करनेवाला अपनी अकिञ्चनताके समर्पणरूप तुलसीदलोंका ही केवल प्रसादतया ग्रहण करे और दर्शनार्थी जनतासे भीख मांग

भगवान्‌को भोग लगायी गयी भेंट-सामग्री स्वयंके उपभोगार्थ न वापरे! अथवा दूसरोंकी भगवत्सेवाके हेतु स्वयं अपने धनका भी विनियोग करे जैसे अपनी भगवत्सेवाके हेतु दूसरोंका विनियोग वह ग्राह्य मानता है.

वेणु-वेत्र धरा कर . यहां वेणुको रुद्ररूप और वेत्रको ब्रह्मरूप जानना चाहिये. जैसाकि कहा गया है “गोपीजन और गाय वेदोंकी ऋचा हैं. भगवान्‌का वेत्र कमलासन ब्रह्मा हैं. वेणु तो भगवान्‌ रुद्र हैं” (कृष्णोपनि.८). इनमें वेणुका कार्य तो सभीके भीतर भगवदीयता सम्पादित कर ब्रह्मानन्दसे भी अधिक भगवत्स्वरूपानन्दके उपभोग कर पानेकी योग्यताका सम्पादन है. यह वेणु भगवान्‌के अधरसुधागत रसकी प्रवाहिका है, ऐसा सुबोधिनीमें समझा कर वहीं निरोधके स्वरूपका निरूपण भी समझाया गया है:

“इस रसके भीतर प्रविष्ट होनेपर निरोध सिद्ध हो जाता है... सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाले सभी सुखभोग यहां पर्यवसित हो जाते होनेसे जीव निरुद्ध हो जाता है. उसके बाद आती है मुक्ति और आश्रय=ब्रह्मभावापत्ति... अन्यथा सृष्टि ही व्यर्थ सिद्ध होगी.”

“भगवान्‌के साथ संलाप कर पाना, वे प्रकट हों तब उन्हें निहारना, मिल जायें तो गले भेंटना, उनकी सेवा करनी, उनका स्पर्श कर पाना, उनके अधरामृतोंका पान करना, भगवान्‌के ऐसे उपभोगके कारण रोमाञ्चित होना, भगवान्‌के वेणुवादनको सुन पाना, स्वयं उन्हें या उनके कण्ठ/चरणोंमें रहे तुलसीपत्रोंको सूंघ पाना, चरणोंसे चल कर उनके समीप जाना, मनसे सदा उनका भावन करना. यह जो हमें इन्द्रियां मिलीं उनका साफल्य है. इसकी तुलनामें मोक्षमें मिलता सुख तो कुछ भी नहीं. क्योंकि अंधेरेमें बंद हो जानेवालेकी इन्द्रियोंका कोई सार्थक उपयोग सोचा नहीं जा सकता. इसी तरह मोक्ष भी जिन्हें इन्द्रिय आदिकी प्रणालीद्वारा विविध प्रकारके ज्ञानकी सामर्थ्य मिली हो उनके लिये इन्द्रियोंके बिना मिलता मोक्षसुख व्यर्थ लगता है. यह बाधक विषयासक्तिको छोड़ कर सभी इन्द्रियोंसे भगवान्‌के स्वरूपानन्दको साधनेवाले सर्वात्मभावके प्रकट होनेपर ही शक्य है.”

(सुबो.१०।१८।५-७).

यहां शृंगाररसात्मिका लीलामें शृंगाररसात्मक प्रभुके स्वरूपके बारेमें

शृंगाररसभाववाली नायिका गोपिकाओंके शृंगाररसात्मक ही निरोधका स्वरूप वर्णित हुआ है। यह “अतः यहां स्त्रियोंका निरूपण प्रकरणके अन्तमें मिलता है। भगवान्द्वारा किसीका भोग किये जानेपर ही भगवान् किसीके भोग्य बनते हैं। अतएव शुक्रदेवजी भी यहां मुख्यतया स्त्रियोंका वर्णन कर रहे हैं” (सुबो.१०।१८।५) आचार्यचरणने प्रतिपादित किया है।

भगवन्मूर्तिके भजनमें उपयोगी, परन्तु, जो सर्वात्मभावका प्रकार है वह तो चतुःश्लोकीमें उपदिष्ट हुआ। अतः प्रश्न हो सकता है कि तो ऐसी भावनाके उपदेशकी यहां क्या संगति या यहां क्या लाभ सम्भव मानना ? यह लीलासामयिक निरूपण है और लीलामें जैसे ब्रजकी गोपिकायें मुख्य अधिकारिणी हैं, उनके उपलक्षणरूप वर्णनद्वारा ब्रजके अन्य भी सभी जनोंको भगवद्भक्ति करनेका अधिकारी माना गया है। यह अन्यत्र भी “श्रीहरि सभी भूतोंके आत्मा ईश्वर प्रिय होते हैं... चाहे कोई देव हो या असुर मनुष्य हो या यक्ष-गन्धर्व हो। भगवान्के मुकुन्दके चरणोंको जो भजता है वह स्वस्तिमान् हो जाता है” (भाग.पुरा.७।७।४९-५०) भागवतके इस वचनके आधारपर भी सिद्ध होता है।

अतएव निरोधलक्षण ग्रन्थमें भी “श्रीहरिकी मूर्तिका ध्यान सदा करते रहना चाहिये। क्योंकि भगवान्-भक्त दोनोंके पुष्टि-भक्तिरूप संकल्पके कारण वहां प्रकटी होती है। सेवाकर्तके नयनोंसे दर्शन और त्वचासे स्पर्शन तो स्पष्ट हैं। इसी तरह कर-चरणोंसे कृति-गती उसके बारेमें होनी चाहिये। कान और वाणी से सदा श्रवण और कीर्तन भी करते रहने चाहिये। पुत्रकामना भी जो श्रीकृष्णकी प्रेमपूर्वक सेवामें सहयोगी बन पाये ऐसेकी करनी। पायुका भी शरीरमें मलांशनिवृत्तिद्वारा सेवोपयोगी शुद्धीकरणार्थ विनियोग शक्य है। फिरभी जिस इन्द्रियका भगवत्कार्यार्थ कोई भी उपयोग प्रतीत न होता उसे निश्चय ही संयमद्वारा निगृहीत करना चाहिये” (निरो.लक्ष.१६-१९) इस वचनमें शृंगाररसात्मक निरोधसे भिन्न प्रकारके भक्तिरसात्मक निरोधका भी निरूपण मिलता है। तदनुसार सर्वभावके साथ भजन करनेपर शृंगार आदि अनेक रसभावना सम्भव होती हैं।

वस्तुतः तो रास भी, अतएव, शृंगाररसात्मक ही होता है ऐसी मान्यताका कोई सुदृढ़ आधार नहीं दिखलायी देता। क्योंकि स्वयं महाप्रभुने इस बारेमें “वैसे

अधिकारीको भगवान्के बारेमें रतिरास अर्थात् रतिका विलास सिद्ध होता है। ‘विलास’पदके द्वारा भगवान्के चरणोंका भक्तके आधीन हो जाना ऐसा तात्पर्य है। भगवद्रतिके अनेक प्रकार हो सकते हैं। बहुविध अर्थात् सभी इन्द्रियोंके विषयोंका रास यानि रससमूह” (सुबो.३।७।१८) इस तरहका निरूपण किया है। यों रासके हेतु भक्तको बुलानेकी भगवान्की विद्याशक्ति जो विषयासक्तिका रुद्ररूपेण उपसंहार कर देती है ऐसी भावनाके साथ मुरलिका भगवन्मूर्तिके करकलमलोंमें धरानी चाहिये।

इसके बाद आता है वेत्र, जो कमलासनरूप है। सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीको उपदेशके निमित्तसे भगवान्ने सभी जीवोंको निजक्रीडार्थ सृष्टिके प्राकट्यका उपदेश “हे ब्रह्मा ! क्योंकि मैं आत्माओंकी भी आत्मा हूं, जगत्में जो प्रियतर हो सकता है उससे भी अधिक प्रियतम मैं हूं, देह आदि सभीमें मेरे कारण प्रियता प्रतीत होती होनेसे मेरेमें अपनी रति जोड़ो” (भाग.पुरा.३।९।४२) इस तरहका भक्तिके मूलभूत परमात्मभावका उपदेश दिया। जैसे केवलाद्वैती उपदेशक कहते हैं कि गले पहनी हुयी मणिमालाको भूल कर यहां-वहां कोई खोजे और याद दिलानेपर कहे कि मिल गयी ! इसी तरह ब्रह्मज्ञान कृतिलभ्य न हो कर केवल स्मृतिलभ्य होता है। वैसे ही भागवतमतके अनुसार भगवद्भक्ति भी कृतिलभ्य न हो कर स्मृतिलभ्य माननी चाहिये। वह साधनजन्या नहीं किन्तु नित्यसिद्धा होती है। एतावता साधनोपदेशको व्यर्थ नहीं माना जा सकता। क्योंकि नित्यसिद्धा होनेपर भी भगवान्के वरण करनेपर उस वरणके अनुभावके रूपमें ही भक्ति प्रकट होती मानी जाती है “हे स्वामी ! असत्पुरुषोंके लिये दुर्लभ ऐसे आपके चरण जो मुझे मिले वह तो आपकी कृपाका ही फल है” (भाग.पुरा.१०।३७।२८)। अतः कहीं भक्तिरूप अनुभाव प्रकट न भी होता हो वहां भी वह रहता तो है ही। अप्रकट रहनेमें हेतु भगवान्द्वारा उस जीवका भक्त्यर्थ वरण न किया जाना है। इसे महाप्रभुने -

“सभी आत्माओंकी भगवान् आत्मा हैं... अतः प्रीतिके विषय होनेके कारण भगवान्में रति करनी चाहिये... देह आदि तो आत्माके सम्बन्धके कारण प्रिय लगते हैं... जागतिक विषयका ज्ञान भी अतएव मूलमें तो भगवज्ज्ञान ही है पर भगवान् हमारा वरण करें तभी यह तथ्य अवगत हो पाता है। इसी तरह देहगेह आदिमें हमारा स्नेह मूलमें भगवत्स्नेह ही है परन्तु भगवान् अपने-आपको इस तरह जताना चाहें तभी ऐसा ज्ञान हो पाता

है... ज्ञानकी अपेक्षा प्रीतिद्वारा शीघ्र ही भगवान्को गृहीत किया जा सकता है. अतएव प्रीतिका उपदेश दिया गया है... भगवान्को चाहते तो सभी हैं परन्तु अनुभूत न हो पानेके कारण जो विषय अनुभूत होते रहते उन्हें जीव चाहने लग जाते हैं. और इसी कारण उसे भगवान् प्रिय नहीं ऐसा भान होता है. जैसे कोई अपने-आपपर क्रोधित हो कर स्वयंको कोसने लगे. उस सिद्ध रतिके बारेमें अपने अभानको दूर करनेको यहां कही गयी रति नित्यप्रीतिके रूपमें दिखलायी गयी है.”

(सुबो.३।९।४२).

अतः अनुग्रहेतर जो श्रवण आदि नौ साधन हैं, या तनुवित्तजा सेवा आदि, या ब्रजभावोंकी अनुभावना आदि, वे सभी अनुग्रहरूप मूलसाधनके अवान्तरव्यापाररूप होते हैं.

एतदर्थ अपनी भगवद्भक्ति निरुपाधिका बनी रहे और सुदृढ़ और सर्वतोऽधिक स्नेहके रूपमें खिल पाये; और यदि खिल गयी हो तो वैसा स्वरूप उसका निरन्तर निभ पाये एतदर्थ वेत्र भी ऐसी भावनाके साथ भगवान्के श्रीहस्तमें धराने चाहिये. अथवा वेत्र धारण कर भगवान् हमें ऐसा उपदेश देना चाहते हैं ऐसी भावना भी की जा सकती है.

१३.अपने सेव्यस्वरूप सदा निजधाममें लीलाविहार करते हैं ऐसी भावना कर उनकी सेवाद्वारा मुझे मुक्तिसे कहीं श्रेष्ठ भगवद्धाममें भगवत्सेवा कर पानेकी कृपा मेरेपर भगवान् की है ऐसी भावना :

“जो अपने आत्मसात् किये सात्वतोंमें श्रेष्ठ होनेसे उनके पति हैं परन्तु साधनाभिमानि भूतलसे बंधे योगिओंको सदा दुर्लभ रहते हैं, जो अपनी ‘राधस्’ नामिका शक्ति, जिसके समान या जिससे अधिक श्रेष्ठ कोई दूसरी शक्ति हो नहीं सकती, उसके साथ निज अक्षरधाममें सदा रमण करते रहते हैं, ऐसे प्रत्यक्ष भगवान्को वारंवार नमन !” (भाग.पुरा.२।४।१४) इस श्लोकको बोल कर नमन करते हुवे अनवसर करना चाहिये.

इसके बाद “निजधाममें ही नित्य लीलाविहार करनेवाला स्वरूप ही अपना सेव्य है” इस तरहकी भावना मुक्तिसे भी अधिक भक्तिके परम उत्कर्षके भावनार्थ सेवाके अनवसरमें भी भक्ति कथापक्षके अवलम्बनद्वारा भगवल्लीलाके अनुसन्धानका उपदेश देनेको जो अपने आत्मसात् किये सात्वतोंमें श्रेष्ठ होनेसे उनके पति हैं यहांसे आरम्भ कर अनवसर करना चाहिये यहां तक भावनान्तरका निरूपण करते हैं. यह पद्य श्रीशुक मुनिने श्रीमद्भागवतकथाके उपक्रममें जो मंगलाचरण किया है उसके अन्तर्गत मिलता है. इस पद्यकी सुबोधिनीमें श्रीमदाचार्यचरणने प्रतिपादन किया है -

“भगवान्की एक सिद्धि है जिसे ‘राधस्’ कहा जाता है. न तो ऐसी कोई सिद्धि ऐसी हो सकती है और न कहीं इससे बढ़ कर कोई सिद्धि हो सकती है. इस सिद्धिके साथ भगवान् निजगृहमें ही सदा रमण करते हैं. यह अक्षरब्रह्मात्मिका है. ‘रमण करते हैं’ ऐसे निरूपणवश जो अपनेमें रहा हुवा रस इस शक्तिके सम्बन्धसे अभिव्यक्त भगवान् करते हैं. एतावता यह सिद्ध हुवा कि भगवान् अपनी स्वरूपस्थितिसे व्यतिरिक्त अन्यत्र कहीं रमण रमण नहीं करते. अतः भगवदीय रस यहीं प्राप्त हो सकता है. गृह उसका अपना और उसे पानेका साधन जिससे अतिशय या जिसके समान अन्य कोई सिद्धि हो नहीं सकती ऐसी सिद्धि. अतः दूसरोंको तो भगवद्रसकी प्राप्ति सर्वथा दुर्लभ ही रहती है. जो परन्तु भगवान्के इस गृहमें रहते हों उन्हें तो सुलभ ही होती है. भगवान् अपने गृहमें उसे ले जा कर रमण करते हैं इस उपपत्तिसे भगवान्का भक्त्येकलभ्य होना सिद्ध होता है. ‘निज अक्षरधाममें’ इस पदद्वारा यह द्योतित होता है कि अन्य कोई वहां जा नहीं सकता. ब्रह्म होनेके कारण यह गृह सर्वथा उपादेय होता है. इस गृहमें लीलारसका प्रवाह निरन्तर बना रहता होनेसे न तो सायुज्य होता है और न उसकी अपेक्षा ही कोई होती है.”

(सुबो.२।४।१४).

इससे सिद्ध होता है कि सेवाके अवसरमें ब्रजलीलाविहारी भगवान्का सर्वभावके साथ सेवा करना स्वधर्म है. सेवाके अनवसरमें वही परब्रह्म परमात्मा परमानन्दरूप भगवान् नित्य सर्ग विसर्ग स्थान पोषण आदि दशविध लीलाओंमें निरत रहते होनेसे इसका निरूपण करनेवाला भागवतपुराण अनुसन्धेय होता है. यह बात



“यहां ईश्वरके ‘कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तु’ सामर्थ्यका निरूपण हुवा है. ‘सद्य’ पदके कारण यह सिद्ध होता है कि भागवतके श्रवणमात्रसे भगवान् हृदयारूढ़ हो जाते हैं, बिना विचार-चिन्तनके भी” (सुबो.१।१।२) कही है. इसके द्वारा भगवत्सेवामें उपयोग आनेवाले गृहमें सेवा करनेवालोंमें भी अक्षरब्रह्मकी भावनाका उपदेश दिया गया है. यही बात-

“कृष्णसेवा सदा करनी चाहिये ... इसीसे संसारके दुःख निवृत्त हो जाते हैं और अक्षरब्रह्मका बोध भी होने लगता है. परब्रह्म तो श्रीकृष्ण हैं और अक्षरब्रह्म सच्चिदानन्दक होता है. उस अक्षरब्रह्मके दो रूप होते हैं : एक तो वही सब कुछ बनता है और दूसरे रूपमें वस्तुमात्रसे विलक्षण भी होता है... अतः ऐसे तत्त्वके प्रतिपादक ब्रह्मवादके अनुसार श्रीकृष्णमें बुद्धि लगानी चाहिये. आत्मचेतना ब्रह्मरूप होती है जैसे व्योमके आगे चलनी रखनेपर छिद्र दिखलायी देने लगते हैं. चलनीके छिद्रोंमें दीखते छोटे-छोटे आकाश-कण यदि चलनी हटा कर देखनेपर एक सारा आकाश अपनी समग्रतामें दिखलायी देने लगता है. इसी तरह अपने क्षुद्र छिद्रोपम अहंबोधकी उपाधिको हटा कर ब्रह्मकी दृष्टिसे देखनेपर अपनी आत्मामें भी ब्रह्मात्मकता झलकने लगती है. जैसे गंगाके तटपर गंगाके किसी भक्तको गंगादेवीके दर्शन सुलभ हो जाते हैं इसी तरह इस अवस्थामें सेवा करनेवाला भी अपने भीतर श्रीकृष्णको देख पाने समर्थ हो जाता है. जो संसारी रहते हुवे भजन करता है उसे तो गंगातटसे दूर रहनेवाला अपनी भक्तिमयी वृत्तिको सन्तुष्ट नहीं कर पाता वैसे ही दुःखी रहता है. अतः सारे लोकसे छुटकारा पाकर अपने भीतर आत्मानन्दके सागरमें लहराते हुवे बिराजमान श्रीकृष्णके मार्गपर श्रीकृष्णका ही चिन्तन करना चाहिये.”

(सिद्धा.मुक्ता.१-१६).

यहां अक्षरब्रह्मका पुरुषोत्तमधाम होना “उस अव्यक्तको ‘अक्षर’ कहा जाता है जो ऐसी परमगति है कि जहां पहोंचनेपर कोई लौट कर नहीं आता ऐसा वह मेरा परमधाम है” (भग.गीता.८।२१) गीताके इस वचनके आधारपर कहा गया है. धामरूप अक्षरका निरूपण श्रीमदाचार्यचरणोंने भी “अक्षरब्रह्म सभी कारणरूप काल कर्म स्वभाव प्रकृति और पुरुष का भी कारण होता है... ऐसा होनेपर भी वह परब्रह्म पुरुषोत्तमका धाम होता है, चाहो तो इसे देहकी तरह या चाहो तो गेहकी

तरह समझ लो. जागतिक सारी आत्मा अक्षरब्रह्मकी देहस्थानीय होती हैं इसी तरह अक्षरब्रह्म भी भगवान्का” (सुबो.३।११।४१) इस तरह किया है. इस बारेमें ब्रह्मसूत्रके अणुभाष्यमें भी प्रक्रिया निरूपित की है :

“अब ब्रह्मको जान पानेका अभिप्राय समझाते हैं कि ‘जो इस तरह उसे जान पाता है’ इत्यादि द्वारा. यहां यह अभिप्राय है कि ‘यह परमात्मा जिसका वरण करता है वही उसे पा सकता है. उसीके सामने वह अपने स्वरूपका विवरण प्रकट करता है’ इस श्रुतिके आधारपर उसके द्वारा किये गये वरणके अलावा अन्य किसी भी साधनसे वह मिलता नहीं है. इस तरह दोनों तरहकी श्रुतिओंमें उभरे विरोधका परिहार अक्षरब्रह्मके ज्ञानसे अविद्यानिवृत्ति होती है, क्योंकि वह ज्ञान जीवको प्राकृत धर्मोंसे रहित बना कर उसे शुद्ध बना कर पुरुषोत्तमको जान पानेकी स्वरूपयोग्यता सम्पादित करता है. ऐसा जीवका जब भगवान् अपनेको जान या चाह पानेवाले जीवके रूपमें वरण करते तब उसमें भक्तिभाव प्रकट होता है. इस तरह सहकारियोग्यताको सम्पादित करता होनेसे उसके कारण पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है. हृदयगुहामें परमव्योमका आविर्भाव, अर्थात् परब्रह्मको जिसके द्वारा जाना जा सके या देखा जा सके इसलिये ‘परम’ कहते हैं... हृदयाकाश रूपी गुहामें जो परमव्योमरूप व्यापिवैकुण्ठ आविर्भूत होता है. वह पुरुषोत्तमका गृहरूप होता है अतः वह निहित स्थापित होनेके रूपमें जो उसे जान पाता है.”

(ब्र.सू.भा.१।१।११)

१४.भगवन्मूर्तिकी तरह श्रीस्वामिनीकी मूर्तिके बारेमें उपदिष्ट प्रादुर्भावीरतिका अतिदेश :

श्रीमूर्तिकी भी इसी तरह या भगवन्मूर्तिके साथ भी प्रतिष्ठापनविधिके अनुष्ठान करनेसे साक्षात् पुरुषोत्तमात्मकता सिद्ध हो जाती है -

श्रीमूर्ति यहांसे आरम्भ कर साक्षात् पुरुषोत्तमात्मकता सिद्ध हो जाती है पर्यन्त. श्रीकी यानि स्वामिनीजीके स्वरूपकी. यहां शंका उठती है कि श्रीमूर्तिकी साक्षात् पूर्णानन्दरूप पुरुषोत्तमात्मकता कैसे कही जा सकती है, क्योंकि श्रीको तो गणितानन्दरूपा अक्षरब्रह्मात्मिका माना गया है ? इस विषयमें यह ज्ञातव्य है कि स्वयं अक्षरब्रह्म भी ऐकान्तिकतया गणितानन्दरूप नहीं होता प्रत्युत “गणितानन्दकं

बृहद्” (कृष्णा.स्तो.८) इस वचनमें “अल्पे”(अष्टा.सू.५।३।८५) इस सूत्रद्वारा अल्पार्थक ‘कन्’प्रत्यय ‘गणितानन्द’ पदके साथ जोड़ा गया होनेसे अक्षरब्रह्ममें गणितानन्द अल्पतर होता है, ऐसा अर्थ ही स्फुट होता है. अर्थात् वस्तुतः तो वह प्रचुर आनन्दमय ही होता है. यह बात “पुरुषोत्तमके स्वरूपसे इस अक्षरब्रह्मका वैलक्षण्य क्या ? आनन्दांशका तिरोभाव. सत्त्वके प्रबल होने मात्रसे... ‘अब मुझे ऐसा बनना है’ ऐसी इच्छामात्रके वश अन्तःसमुत्थित सत्त्वके वश आनन्दांश तिरोहित जैसा हो जाता है... ऐसे नहीं सोचना चाहिये कि आनन्दांशके तिरोहित जैसे हो जानेपर वह जीव ही बन जायेगा, वैसे महद् आदि पदार्थोंमें तो आनन्दांश तिरोहित ही रहता है. क्योंकि बहुभवनकी इच्छाके प्रबल होनेके कारण तिरोभाव जैसा कुछ घटित होता है. वस्तुतः यह तिरोभाव औपचारिक है. अर्थात् इच्छाके प्रकट होनेके कारण कार्यव्यापृतिके वश तिरोभाव जैसा कुछ घटित होता है. वस्तुतः तो वह आनन्दमय ही होता है” (त.दी.नि.प्र.२।९९-१००) इस तरह अक्षरब्रह्मके आनन्दके बारेमें प्राचुर्यार्थक ‘मयट्’ प्रत्ययका प्रयोग सर्वनिर्णयमें महाप्रभुने किया है. और एक बात जो सुबोधिनीमें महाप्रभुने कही है “जब भगवान् शक्तिके रूपमें प्रकट होते हैं तब उन शक्तिओंमें श्री प्रथमशक्ति होती है. वह पहले तो बलकी तरह शरीरमें ही अवस्थित रहती है, पर भगवान्के भर्ता या प्रभु के रूपमें आविर्भूत होनेपर वह भी भार्या या भोग्या के रूपमें आविर्भूत हो जाती है... वह स्वयं अपनेलिये सच्चिद्रूपा होनेपर भी उसका विग्रह ब्रह्मानन्दरूप होता है... क्योंकि वह अक्षरानन्दरूपा होती है” (सुबो.२।९।१३).

इस वचनमें एक सन्देह होता है कि “स्वयं अपनेलिये वह सच्चिद्रूपा होती है परन्तु पुरुषोत्तमके लिये आनन्दरूपा होती है” ऐसा कहा है तो न केवल वही अपितु निखिल नामरूपकर्मोवाला यह चेतनाचेतन जगत् भी स्वयं पुरुषोत्तमके लिये तो पुरुषोत्तमात्मक ही होता है. क्योंकि वह स्वयं ही तो उन-उन रूपोंमें प्रादुर्भूत हुवा है; और क्योंकि वह “देशतः कालतः अवस्थातः स्वतः या अन्यतः किसी भी रूपमें अपनी बोधात्मकताको खोता नहीं है” (भाग.पुरा.३।७।५) ऐसा भागवतमें कहा ही गया है. यदि ऐसा मानते हैं तो श्रीशक्ति और जड़-जीव आदि भी स्वयं अपने लिये अपुरुषोत्तमात्मक होनेपर भी पुरुषोत्तमके लिये तो पुरुषोत्तमात्मक ही होंगे. तब श्री शक्ति और जड़-जीव आदि जगत् के बीच अन्तर कैसे सिद्ध होगा ?

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सृष्टिमें या अवतारलीलामें श्री ही भगवान्की साक्षाद् भोग्या होती है अन्य सभी कुछ उसके अवतार या आवेश के कारण भगवद्भोग्य बन पाते हैं.

१५.सेवाके आरम्भमें वैसा अनुभाव सिद्ध न हो पानेके कारण होते उद्वेगके निवारणार्थ आश्वासन :

विविध लीलाभावोंके अनुभाव प्रकट करनेवाले प्रादुर्भाव आदि तो उन-उन भक्तोंके वैसे-वैसे भावोंके अनुसार होते हैं. अतएव “स्वरूपमें देहोंमें देहादिकी क्रियाओंमें तारतम्य न होनेपर भी जिससे जो कार्य सिद्ध करवाना हो उससे वह कार्य भगवान् सिद्ध करवा लेते हैं” (पु.प्र.म.१३) ऐसा पितृचरण महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने निरूपित किया है.

अतः आत्मक्रीडार्थ ही एकमेव अद्वितीय ब्रह्म अनेकधा प्रादुर्भूत हुवा होनेसे जिन-जिन रूपोंमें जिन-जिन नामोंको धारण कर जिस-जिसके प्रति जो-जो कर्म करना चाहता है, उस नामके उस रूपमें उसी कर्मकी अभिव्यक्ति उसके ही प्रति अभिव्यक्ति होती है अन्य कर्मकी या अन्यके प्रति नहीं. अतः कहते हैं विविध लीलाभावोंके अनुभाव प्रकट करनेवाले प्रादुर्भाव आदियहांसे आरम्भ कर “स्वरूपमें, देहोंमें और देहादिकी क्रियाओंमें तारतम्य न होनेपर भी जिससे जो कार्य सिद्ध करवाना हो उससे वह कार्य भगवान् सिद्ध करवा लेते हैं” (पु.प्र.म.१३) ऐसा पितृचरण पर्यन्त. इस आत्मसृष्टिमें जड़-जीवोंके भेदकी तरह जीवोंमें भी पुष्टि मर्यादा और प्रवाह के प्रभेद, उसके अवान्तर उपभेद, जैसे कि शुद्धपुष्टि पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि प्रवाहपुष्टि आदि, इनमें भी देव दानव तिर्यक् नर आदि भेद काल-कर्म-स्वभावके कारण प्रादुर्भूत होते हैं जिसके कारण उस परमानन्दका ये विविध जीव इन हेतुओंके कारण तारतम्यसे करते हैं. इस विषयका प्रतिपादन “यह ऐसी आनन्दकी मीमांसा है... वह एक मानुष आनन्द होता है. ऐसे सौ मानुष आनन्द...” आरम्भ कर “ऐसे सौ प्रजापतिके आनन्द बराबर ब्रह्मका एक आनन्द होता है... वह तो एक ही है” (तैत्ति.उप.२।८) यहां किया गया है. “कोई भी स्वयं प्रियतया काम्य होनेके कारण प्रिय नहीं होता प्रत्युत आत्माके

प्रियतया काम्य होनेके कारण ही सब कुछ प्रिय लगते हैं” – “इसी आनन्दकी कुछ मात्राओंका अन्य भूत उपजीवन करते हैं” (बृह.उप.२।४।५, ४।३।३२) यहां भी किया गया है. इसीका उपोद्बलक श्रीमद्भागवतका “मैं आत्माओंकी भी आत्मा हूं, सभी प्रियतरोंमें प्रियतम हूं. देह आदि भी मेरे ही कारण प्रिय लगते हैं. अतः मेरे साथ अपनी रति जोड़नी चाहिये” (भाग.पुरा.३।९।४२) यह सुन्दर वचन भी मिलता है. ये सारी बातें हृदयमें रख कर आचार्यचरण कहते हैं –

१. “भक्ति स्नेहरूपा होती है, ‘देव आदिके बारेमें जो रति उसे ‘भाव’ कहते हैं’. यहां ‘रति’ पदके कारण स्नेह और ‘देव’ पदके कारण माहात्म्य द्योतित होता है. यह तो जब उसे अपनी आत्मा होनेके रूपमें जानें तभी सम्भव है. अतः भजनार्थ ही आत्मा होनेके रूपमें उसका निरूपण और माहात्म्य कहा जाता है. अन्यथा ब्रह्मके निरूपणार्थ प्रवृत्त उपनिषदोंमें दो तरहके वाक्य व्यर्थ सिद्ध होंगे.”

२. “अतः स्नेह तो एक विलक्षण पदार्थ है. वह तो भगवन्निष्ठ और भगवद्विषयक ही होता है, जैसे ज्ञान या ऐश्वर्य भगवान्के सम्बन्धकी निकटताके कारण अन्यत्र भी अवभासित होते हैं. उष्णस्पर्शकी तरह जैसे-जैसे भगवान्के कोई निकट होता जाता है वैसे-वैसे स्नेह अतिशय उसमें बढ़ता जाता है. शरीराभिमानी आत्माके बारेमें भी हमें परम स्नेह इसीलिये होता है. क्योंकि परमात्माके साथ अन्य सभी अहन्तास्पद या ममतास्पद पदार्थोंकी तुलनामें वह अति निकटतर होती है. अन्यत्र तो स्नेह आत्माके अध्यासके कारण होता है.”

३. “प्रीति तो भगवान्का एक ऐसा धर्म है जो भगवान्ने सभी जीवोंके बीच, उन्हें किसी तरहकी सुखानुभूति सुलभ हो पाये इसलिये, खण्डशः बांट रखा है. अतः जो जहां प्रेम करने लगता है वहीं उसे सुख मिलने लग जाता है. अतः सोचो तो स्वयं अपना ही सुख हमें मिलता है.”

(त.दी.नि.प्र.१।४२ सुबो.१।१९।१६, २।२।७)

१६. इस तरह प्रतिष्ठापित श्रीपुरुषोत्तमके भजनकी इतिकर्तव्यताके निरूपक ग्रन्थ और कर्तव्य का उपदेशः

इसके बाद अन्याश्रयका त्याग करके गुरुद्वारा श्रीभागवत

भक्तिवर्धिनी नवरत्न ग्रन्थोंमें उपदिष्ट प्रकारको अनुसरते हुवे भगवान् श्रीकृष्णका ही भजन करना चाहिये. यहां अपेक्षित उपपत्ति तो भक्तिहंस ग्रन्थमें स्फुटतया समझायी ही है. अतः यहां देना अब आवश्यक नहीं.

यहां जानने लायक बात यह है कि यद्यपि तत्त्वदृष्टिसे जीवात्माकी रति तो कहीं भी हो पर उसकी रति तो भगवद्रति ही होती है. फिरभी लीलादृष्टिसे अन्याश्रयका त्याग और अन्यरतिका त्याग भगवत्प्रपत्ति और भगवद्भक्ति में अतिशय अपेक्षित होता है, दोनोंके सुदृढ़ होनेके लिये और स्नेहके सर्वतो अधिक होनेके लिये. अन्यथा तो भक्ति अपने लक्षणके अनुरूप ही हो नहीं पायेगी. इनमें अन्याश्रय भक्तिके पूर्वांगभूत माहात्म्यज्ञानके प्रतिकूल मन वाणी या कर्म की प्रवृत्ति है. इसी तरह अन्यरति भी भक्तिके उत्तरांगभूत सुदृढ़ सर्वतोऽधिक स्नेहके प्रतिकूल मन वाणी या कर्म की प्रवृत्ति है. अतः उन्हें भलीभांति संयत करनेपर ही भगवदनुग्रहसे जन्य भक्ति अपना स्वरूप निभा पाती है. अतः भगवदनुग्रहरूप प्रमुख साधनके ये अनन्याश्रय और अनन्यासक्ति अवान्तरव्यापाररूप हैं. सारे उपनिषदोंकी सारभूत श्रीभगवद्गीता और उसके विस्ताररूप श्रीभागवतपुराण के निष्कृष्ट तात्पर्यका अज्ञान ऐसी प्रतिकूल प्रवृत्तिका हेतु बन जाता है. यह सारे शास्त्रोंके निर्गलितार्थके उपदेशक निजाचार्यके वचन परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप और उनके भजनकी रीति के उपदेशक षोडशग्रन्थोंमें मिलते हैं. उनके अवगाहन करनेपर सारे प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति हो सकती है, ऐसा अपना अभिप्राय प्रभुचरण कह रहे हैं इसके बाद अन्याश्रयका त्याग करके यहांसे आरम्भ कर मध्यमें भक्तिवर्धिनी नवरत्न ग्रन्थोंमें उपदिष्ट प्रकारको अनुसरते अंशद्वारा अन्तमें भजनके प्रकारको भी समझाते हुवे भगवान् श्रीकृष्णका ही भजन करना चाहिये पर्यन्त भजनीयका स्वरूप भी निर्धारित किया गया है.

भक्तिसे जुड़े आचार्योंके उपदेशार्थ नानाविध उपदेशरूप प्रायः उन्नीस जितने उपदेशप्रधानग्रन्थोंके रहते यहां सेवाप्रकारके भलीभांति अनुष्ठानके लिये क्यों केवल भक्तिवर्धिनी और नवरत्न ग्रन्थोंका ही विशेषतया उल्लेख किया गया है ?

भागवतके प्रतिपाद्य श्रीकृष्णकी भक्ति तो अपने घरमें ही आचार्यचरणोंको अभिप्रेत है सार्वजनिक देवालयोंमें नहीं, जैसे कि आधुनिक उनके पू.पा.वंशज

और अनुगामी मोहान्धकारमें भटकते हुवे एक-दूजेको भरमानेको आचार्योंपदिष्टसे विपरीत कुरीतिको ही इस परम दिव्य मार्गमें पुष्टिमार्गके रूपमें देखना-दिखलाना चाहते हैं. क्योंकि “‘जो अव्यावृत्त हो उसके लिये भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेका प्रकार तो घरमें रह कर स्वधर्मको निभाते हुवे कृष्णको भजना है’ इस उपदेशमें घरमें रह कर भजनके विधानके कारण अपने घरमें बिराजते स्वरूपका भजन छोड़ कर अन्यत्र करनेपर भक्ति सिद्ध नहीं होती” (श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णविरचिता भ.व.व्या.२). यहां अपने घरमें बिराजते भगवद्विग्रहकी सेवा पुष्टिमार्गमें कर्तव्यके रूपमें मार्गणीय होती है. इस बातके उपोद्बलक “‘शास्त्रोंमें सर्वथा हेयतया कहे घर आदि सभीका भगवान्को निवेदन कर घरोंमें भगवत्सेवा करनेवालोंको उनके भगवदुपयोगी बन जानेके कारण घरोंमें रहते हुवे भी मुक्ति मिल जाती है. ऐसोंके घर भगवद्गृह ही होते हैं यह जतानेको ‘आयतन’ पदका प्रयोग किया... ‘आदि’ पदसे स्त्री पुत्र आदि संगृहीत किये गये. इस हेतुसे ज्ञानमार्गसे भक्तिमार्गका उत्कर्ष प्रतिपादित होता है. यहां मुक्तिके बाधक तत्त्व भी साधक बन जाते हैं” (ब्र.सू.भा.३।३।३९) ऐसे भाष्यकारके वचन भी मिलते ही हैं.

सार्वजनिक देवालयोंमें स्वयं या स्वयं निवेदित सभी स्वीयों के निवेदनके बारेमें होती चिन्ता, या भगवान्में उनके विनियोग न हो पानेकी चिन्ता, या उनके अन्य किसीमें विनियोगके कारण होती चिन्ता सर्वथा अप्रसक्त ही होती है. इसी तरह सार्वजनिक देवालयोंमें अपने वेद या लोक में स्वस्थ न रह पानेके कारण होती चिन्ता भी सर्वथा ही अप्रसक्त होती है. वह तो भगवत्सेवामें परायण भक्तिमान् सेवकके घरमें सेवा की जाये तभी प्रसक्त हो पाती है. अतएव इन दोनों ग्रन्थोंके बारेमें यहां सेवाके प्रकारके प्रेरक होनेकी बात कही गयी है. क्योंकि मुक्तिमें बाधक माने जाते घर आदि भजनमें उपयोगी होनेसे साधक होते हैं. फिरभी अपने सांसारिक घरमें जिन या जैसी चिन्ताएं पैदा हो सकती हैं, वे सेवा करनेवालेके लिये विवेक धैर्य भगवदाश्रय और भगवद्भक्ति के विपरीत होनेसे प्रतिबंधक ही मानी जाती हैं.

अतएव भक्तिवर्धिनी और नवरत्न ग्रन्थोंका कुछ असाधारण महत्त्व इस विषयमें है ही. इसके कारण श्रीकृष्णकी अपने ही तनुवित्तसे, अपने ही घरमें ही, स्वयं समर्पित की गयी पत्र पुष्प फल अन्न वस्त्र अलंकार आदि सामग्रीसे की गयी

सेवा स्वयं अपने और अपने सर्वस्वके विनियोगके रूपमें ब्रजभक्तोंके भावोंकी अनुभावना करते हुवे अपने परिवारजनोंके साथ अतीव निश्चित हो कर सेवा करनेका सिद्धान्त ही इस सारे प्रतिपादनका निर्गलितार्थ.

१७.भजनके ऐसे प्रकारमें नित्य आवाहन-विसर्जनके अलावा पूजाकी बहोत सारी रीतिओंका अन्तर्भाव मान्य किया गया होनेसे कभी अशुद्धि कुछ आ पड़े तब क्या करना :

**स्लेच्छ या चाण्डाल आदि अथवा अन्यमार्गीय के स्पर्श होनेपर पञ्चामृतस्नान और अभ्यंग करा कर शृंगार धराने और “‘भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन पा कर मिले आह्लादके वश... आसनके रूपमें गोपीजनोंने बिछा दी.” (पूर्वोक्त स्थलपर) आदि पद्योंके पाठका प्रकार पूर्ववत् ही करना.**

**स्लेच्छ या चाण्डाल आदि** से आरम्भ कर पूर्ववत् ही करना पर्यन्त. यहां यह आशंका की जा सकती है कि भागवतमें “‘शिलानिर्मित, काष्ठनिर्मित, लौह आदि धातुओंसे निर्मित, रंगोके लेपनद्वारा निर्मित, लेखिनीद्वारा लिखित, बालुसे निर्मित, मानसी, या मणिनिर्मित यों प्रतिमा आठ तरहकी हो सकती हैं” (भाग.पुरा.११।२७।१२) इन आठ प्रकारकी प्रतिमाओंमें सभीके साथ इस विधिको अनुष्ठान शक्य न होनेसे न तो सभी प्रतिमाओंकी यथोक्त विधानके अनुसार प्रतिष्ठा और न शुद्धि ही कोई कर सकता है ? यहां समाधनतया यह जान लेना आवश्यक है कि जिस प्रतिमाका ऐसी विधिके अनुसार प्रतिष्ठा करने जानेपर अर्थात् पञ्चामृतस्नान संस्कार करानेपर प्रतिमाकी वर्णाकृतिके लुप्त होनेका प्रसंग उपस्थित होता हो वहां “‘द्रव्य और संस्कार के परस्पर विरोधी होनेपर द्रव्यकी प्रधानताका विवेक रखना चाहिये” इस न्यायके अनुसार दूरसे प्रोक्षण मात्र कर लेना चाहिये. अथवा धातुनिर्मित दर्पणमें प्रतिमाके प्रतिबिम्बको स्नान करा कर भी इस विधिका अनुष्ठान शक्य है. बालुसे निर्मित लिंग/प्रतिमाके प्रतिदिन आवाहनविसर्जन किये जाते हैं (जो हमारे सम्प्रदायमें नैमित्तिक रूपमें और अपवादरूपेण ही, यमुनातटपर शिला पधरा कर, अन्नकूटके दिन गोमयनिर्मित गोवर्धनपर्वतके पूजनार्थ, या महाप्रभुजीकी जिन बैठकोंमें नित्यसेवाका प्रकार निभ न पाता हो वहां भूमिपर तिलक-तुलसीकण्ठी-वस्त्र आदि धरा कर अथवा

छप्पनभोग आदिके प्रसंगमें जब भावनाजी पधराये जाते हैं तब तो आवाहन-विसर्जन अनुष्ठेय होते हैं. अन्यथा अपने यहां नित्यसेवार्थ पधराये जाते भगवद्विग्रहके बारेमें आवाहन-विसर्जनविधि स्वीकारी नहीं गयी है). जैसाकि कहा ही गया है “अपने यहां उद्गासावाहन नहीं किये जाते, मूर्तिमें भगवान्की स्थिति उपपादित की गयी होनेसे” (त.दी.नि.आव.२।२२९) आवरणभंगके इस वचनमें. ग्रन्थान्तरमें वस्त्रसेवावादमें भगवद्विग्रहसे उत्तीर्ण वस्त्र अंगराग वेणु आदि की भी साक्षाद् भगवद्भावके साथ सेवा की जा सकती है, ऐसा आवरणभंगकारने उपपादन किया ही है. अतः वहां भी यही न्याय अनुसन्धेय है.

यहां शंका होती है कि वैष्णववार्ताओं (द्रष्ट.२५२/१२४, १३६)में वर्णाश्रमसे बाह्यजनोंको और अत्यजोंको भी सेवार्थ भगवन्मूर्ति प्रदान करनेके उल्लेख मिलते हैं, वह उनके स्पर्श बिना कैसे शक्य हो पायेगी? उनके स्पर्शके कारण मूर्तिको पञ्चामृतस्नान और अभ्यंगस्नान करानेकी विधि स्वयं श्रीमत्प्रभुचरणने भी कहां निभायी? अतः इस विधानमें कुछ विसंगति लगती है. साथ ही साथ “किरात हूण आन्ध्र पुलिन्द पुलकस आभीर कंक यवन खस आदि अन्य भी जो समुदाय अशुद्ध माने गये हैं वे भी भगवदाश्रितोंके भी आश्रयद्वारा शुद्ध हो जाते हैं ऐसे सर्वसमर्थ भगवान्को नमस्कार” (भाग.पुरा.२।४।१८) ऐसा वचन मिलता है. इसके अलावा निर्णयसिन्धुमें उद्धृत वाराहपुराणके वचनमें भी “जो हीनवर्णके लोग हों उन्हें शालग्रामका स्पर्श नहीं करना चाहिये... स्त्री या शूद्रों के द्वारा शालग्रामको हाथसे छूना उनपर वज्रके प्रहारके बराबर होता है... यदि प्रबल भक्तिभाव पूजा करनेका हो तो दूर ही से... स्पर्श किये बिना पूजा करनी या करवानी चाहिये... किसी भी देवताकी प्रतिमा, परन्तु, सभी वर्णोंद्वारा पूजी जा सकती है” (वारा.पुरा. १।१) इस वचनके आधारपर भी भक्ति होनेपर प्रतिमापूजनमें सभीका वैध अधिकार तो माना ही गया है. अतः अनुपनीतके प्रपन्न भक्त होनेपर उसे सेवा-पूजनार्थ प्रतिमा प्रदानमें कोई दोष प्रतीत नहीं होता.

यहां यह ज्ञातव्य है कि दो सौ बावन वैष्णवोंकी २५२/१२४ वार्तामें अत्यजको फिर शालग्रामकी शिलाके पूजनकी अनुमति क्यों दी गयी, वह यद्यपि नहीं दी जानी चाहिये थी फिरभी क्योंकि शालग्राममें भगवान्की नित्य संनिधि मानी गयी है. अतः किसी अत्यजके उसे छू लेनेपर भी वह संनिधि निरस्त तो हो नहीं पायेगी. सो भगवान्की आधिदैविक विभूति होनेके रूपमें ही स्पर्श-पूजनका

निषेध लागू होता होगा परन्तु साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान्के रूपमें सेवाके बारेमें नहीं. इसी आशयसे अपने प्रमेयबलसे प्रभुचरणने उसे अनुमति दी होगी. उसके पुष्टिमार्गमें दीक्षित होनेके कारण भी ऐसा अनुमान होता है. अन्यथा तो अत्यजके तो स्पर्श होनेपर ही पुनःपञ्चामृतद्वारा स्नान करानेका विधान है परन्तु किसी अवैष्णवके समक्ष अपने सेव्यके प्रदर्शनके कारण तो वार्षिकी सेवाके निष्फल हो जानेकी और पुनः पञ्चामृतस्नान कराने की आज्ञा छांसठ अपराधोंके निरूपणमें श्रीहरिरायजीने दी है. वह तो भगवत्सान्निध्यकी निवृत्तिके ही बराबर लगती होनेसे पुनःप्रतिष्ठाविधिके तुल्य ही लगती है. इस हेतुके कारण भी पुष्टिमार्गीय सार्वजनिक देवालयोंमें पुष्टिप्रभुकी सेवा सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत ही है. इन सारी बातोंकी सुविशद मीमांसा मैंने अपनी (कु)विमर्शकी विशोधनिकामें की है. विशेष जिज्ञासा होनेपर उसके अवलोकनद्वारा निवृत्त की जा सकती है.

अतएव यह पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा स्वार्था है या परार्था? इस प्रश्नके समाधानार्थ श्रीकृष्णसेवाके सम्भावित दो रूप - एक भगवद्भावार्जनार्थ और धनोपार्जनार्थ रूपोंको महाप्रभु और प्रभुचरण ने सेवाको पञ्चमपुरुषार्थ मान्य रखनेकी करवतसे काट कर दोनों फाड़ोंको अलग-अलग किया. उन्हें एक-दूजे दूर रखनेको उन दोनोंके बीच तनुवित्तजा सेवाकी खील फंसा कर रखी थी. उसे गोस्वामिओंके कुलगौरवके नाशक वानरकी तरह उखाड़ना चाहनेवाले किसी वानरने ऐसा विधान किया कि तनुजा नोकरोसे करायी जानेपर और वित्तजा दर्शनार्थी जनताके द्रव्यसे करायी जानेपर अन्तमें तो तनुवित्तजा सेवा ही सिद्ध होती है. अतः इस रीतिमें भी आचार्यचरणोंकी आज्ञाका ही परिपालन हुवा भलीभांति जानना चाहिये. जनताके उद्धारार्थ की जाती ऐसी भगवत्सेवाके कारण अपने देहगेहादिके पोषणमें भी अतएव जन्मजन्मान्तरोंके अदृष्टको ही नियामक मानना चाहिये. क्योंकि अन्यथा दूसरा कोई अपना वित्त हमें देगा ही क्यों! अतः गोस्वामिओंकी हवेलिओंमें की जाती कृष्णसेवा, गोस्वामी और द्रव्यदाता दर्शनार्थियों, दोनोंके उद्धारार्थ होती है. जबकि वैष्णवोंके घरोंमें की जाती सेवा परन्तु केवल वैष्णवोंके उद्धारार्थ ही होती है.

हे भगवान्! इस विचित्र बातका क्या खुलासा देना! यह तो भक्तिकी मन्दता, मतिकी मन्दता, नीतिकी मन्दता के कारण किसीकी कुलगौरवकी नाशिका



दुर्गति है ! निजाचार्यके कुलमें जन्म लेनेवालेकी ऐसी दुर्गति होनी यही बड़ी मनोव्यथाकी बात है ! फिरभी संक्षेपमें इतना तो कहना चाहेंगे ही कि भगवत्सेवाकी सच्ची अभिलाषा रखनेवाला कोई निजगेहमें भगवदाराधनार्थ यदि पुरुषोत्तमकी प्रतिष्ठा करना चाहता हो तो उसे स्वार्थप्रतिष्ठा ही करनी चाहिये और यदि निजानुगामी जनोंके लिये तब किसी अर्थविशेषमें परार्थप्रतिष्ठा मानी जा सकती है -

“कहीं सागरके तटपर अथवा नदीके तटपर, ग्रामविशेषमें या विपिनादिमें कहीं जगत्के कल्याणकी कामनाके वश और दुष्कर्मोंके निवर्तनके लिये पधराया गया वासुदेवका विग्रह ‘परार्थप्रतिष्ठापित’ कहा जाता है. ऐसा भगवद्विग्रह सभी जनोंके लिये सर्वविध फलोंका प्रदाता होता है. यह सभीको मुक्ति प्रदान करनेवाला होता है. अतएव सभी भक्तजनोंके लिये आराधनीय होनेसे इसे परार्थ-पुरुषोत्तम माना जाता है. अपने-अपने घरोंमें, किन्तु, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या शूद्र आदि व्यक्तिओंने जिस देवाधिदेवको प्रतिष्ठापित किया हो उसे ‘स्वार्थप्रतिष्ठापित’ कहा जाता है. इस तरहकी प्रतिष्ठा की जानेपर ऐसी भगवन्मूर्तिकी सेवा-पूजाके हेतु जो पशु उपवन भवन खेत पुत्र परिजन धन आदि रूपी स्वार्थसम्पदा ही प्रयोगमें लायी जाती है. आराधनार्थ इस स्वार्थसम्पदाके ही उपयोगमें लानेके कारण इस तरह प्रतिष्ठापित भगवन्मूर्तिको ‘स्वार्थप्रतिष्ठापित’ कहा जाता है. परार्थप्रतिष्ठा सूर्यकी तरह सभीको प्रकाश प्रदान करनेवाली होती है जबकि स्वार्थप्रतिष्ठा अपने गृहदीपकी तरह केवल अपने घरको प्रकाशित करनेवाली होती है.”

( श्रीप्रश्नसंहि. ५३।१५१-५७ )

इस तरहके अनेक शास्त्रवचनोंमें इन दोनों प्रकारोंका अन्तर सुनिर्धारित है ही. भक्तिमार्गीय आचार्योंके उपदेशार्थ नानाविध वाक्यरूप श्रीमदाचार्यचरणोंके बहुत सारे ग्रन्थोंमेंसे किसी भी ग्रन्थमें परार्थभजनका प्रकार कहीं मिलता भी नहीं है. अतः स्वमार्गीय पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा निश्चित ही स्वार्थप्रतिष्ठा है, इसमें शंकाका कोई प्रसंग ही नहीं.

कुछ लोग ऐसे कहते हैं कि चाहे उपदेश ऐसा किसी भी ग्रन्थमें न मिलता हो फिरभी “जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्” ( सर्वो.स्तो. १२ ) इस सर्वोत्तमस्तोत्रके नामका अभिप्राय विचारनेपर परार्थभक्तिका अनुष्ठान स्वयं प्रभुचरणने अपने पिता

महाप्रभुका स्वीकारा है. वस्तुतः तो प्राचीन टीकाकार इस नामकी व्याख्यामें क्या कहते हैं वह पहले भलीभांति जान-समझ लेना चाहिये. लाभपूजापरायण आधुनिक पू.पा. देवलकोंके मनघड़ंत अर्थको पकड़ कर पुष्टिमार्गमें मोहका प्रसार नहीं करना चाहिये. उसे देखें तो -

१. “यद्यपि अपने भक्तोंमें पूर्वोक्त अपने नामोंके द्वारा अपना स्वरूप ज्ञापित कर दिया. फिरभी वह तो केवल वाचनिक उपदेश ही होगा. अतः अपनेद्वारा उपदिष्ट सेवाके प्रकारको स्वयंके आचरणद्वारा भी समझा देनेको स्वयं उपदिष्ट रीतिके अनुसार भजन करके दिखलाया, यह जतानेकेलिये “जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्” नाम प्रकट किया. श्रीकृष्णसेवा स्वयं भी करते हैं ऐसा कहनेसे अपने मार्गमें भगवद्भजन ही पुरुषार्थ है. उसकी तुलनामें अन्य कोई भी कर्तव्य मान्य नहीं हो पाता. यही जतानेको ‘जनशिक्षा...’ इत्यादि कहा है. ‘कृष्ण’ पद तो फलका वाचक होनेसे इस तरह किया गया भजन फलरूप ही होता है, मार्गान्तरीय भजनकी तरह साधनरूप नहीं माना जा सकता. यह ज्ञापित हुवा.” ( श्रीगोकु.विवृ. ).

२. “यहां सन्देह होता है कि सत्पुरुषोंका हित करना तो ठीक परन्तु स्वयं ईश्वर हों तो भगवद्भक्ति करनेका हेतु क्या ? इस सन्देहके निराकरणार्थ कहते हैं ‘जनशिक्षाकृते...’ ”. ( श्रीहरि.विवृ. ).

३. “‘जनशिक्षा...’. सदानन्द=श्रीकृष्णरूप होनेपर भी लोकमें स्वयं भक्ति करके अपने जनोंको कृष्णसेवा करनेकी शिक्षा देते हैं.” ( श्रीविट्ठलरायात्मजवल्लभकृत. विवृ. )

अतः अपनी लाभपूजाके हेतु श्रीकृष्णकी सेवा श्रीमदाचार्यचरणने की हो ऐसा तो सोचना भी पाप है. वैसी सेवा तो आजकल अपनी उदरपूर्तिके हेतु उनके वंशजोंके मनमें घर कर गयी है ! एतदर्थ ही श्रीहरिरायजी कहते हैं : “किसी भी तरहकी अपेक्षा रख कर या दंभ किये बिना, केवल श्रीमदाचार्यचरणोंपर आश्रित होनेसे इस जीवात्माका पुष्टिप्रभुने वरण किया है, ऐसे करुणाके मनोभाव रखते हुवे, अपने मार्गमें दीक्षित हो कर श्रीकृष्णकी सेवाके हेतु सतत प्रयत्नशील होनेके कारण शुद्ध सेवकको ऐसा स्वरूप फलरूपतया पधराना चाहिये” ( स्वमार्गी.स्वरू.स्थाप. १६-१७ ).

ऐसे निरूपणद्वारा भक्तिका दम्भ : भगवान्‌के सेव्य स्वरूपके प्रदानमें, सेवाके उपदेशमें, सेवोपयोगी भावोंके उपदेशमें, या उसके हेतु दी जाती दीक्षा प्रदान आदिमें शक्य होनेसे धन कमानेकी लालसाका न रखनेका उपदेश यहां दिया गया है.

अतः गुरुके द्वारा अपने अनुगामिओंके लिये की गयी पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा अपनेसे पर अर्थात् अपने अनुगामीके हेतु होनेके ही अर्थमें तो परार्थ हो सकती होनेपर भी, अर्थात् सार्वजनिक परार्थ होनेके अर्थमें तो सर्वथा नहीं, भगवन्मूर्तिकी सेवाका परार्थानुष्ठान तो सर्वथा निन्दित आचरण ही होता है. अतः किसी भी पुष्टिमार्गीयको इस बारेमें भ्रम नहीं रखना चाहिये.

यहां कहे गये पञ्चामृत स्नानका प्रकार तो जो श्रीपुरुषोत्तमजीने प्रकटित किया वही अवधेय है. अतएव उसे इस ग्रन्थके परिशिष्टके रूपमें दिया जा रहा है. इसके अवलोकन करनेसे इस बारेमें उठते सन्देह निवृत्त हो जाते हैं.

ग्रन्थोपसंहारार्थ इतिश्री :

**इस तरह श्रीविठ्ठलदीक्षित ( प्रभुचरण )द्वारा विरचित श्रीपुरुषोत्तमके प्रतिष्ठाका प्रकार पूर्ण हुवा.**

ग्रन्थके उपसंहारार्थ इतिश्री लिख रहे हैं **इति श्रीविठ्ठलदीक्षित...** इत्यादिसे. यहां अन्य मातृकाओंमें 'प्रभुचरण' पद किसी परवर्ती अनुलिपिकारद्वारा योजित लगता होनेसे कोष्ठकमें रखा है.

इस ग्रन्थकी व्याख्याके बहाने मैंने महाप्रभु प्रभुचरण प्रभृति पूर्वाचार्योंके बहोत सारे वचनोंको संकलित करनेका सभानतया प्रयास किया है. यह संकलन अपने मार्गके सिद्धान्तके बारेमें अपनी समझको महाप्रभुकी कृपाके बलसे शुद्ध रखनेके प्रयासके रूपमें किया है. यह व्याख्या निर्दोष है या सदोष अथवा प्रामाणिक है या अप्रामाणिक, इस बारेमें कुछ भी कह पानेको मैं अपने-आपको समर्थ नहीं

मानता. फिरभी इतना तो जानता हूं कि इस व्याख्याके लेखनके कारण मैं अवश्य ही कृतकृत्य हो गया. श्रीकृष्णास्य महाप्रभुकी वाणीके सागरमें डुबकी लगानेपर ही पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाकी नींवपर श्रीकृष्णसेवाका सुदृढ़ भवन निर्मित हो सकता है. ऐसा कि डुबकी लगानेवालेके चित्तको तनुवित्तजा सेवाद्वारा कृष्णप्रवण बनाया जा सके. वर्तमानमें अपने दुरन्त उदरगुहाकी भूखको पूरी करनेको तनुजा और/अथवा वित्तजा ( अथवा न तन और न धन पर केवल अपना नाम जोड़ कर लाभग्राही उद्योगके रूपमें चलानेके दुष्कर्म ) के रूपमें उसे धूर्तोंने विदीर्ण कर दी है. अतः पुष्टिसम्प्रदायमें अधुनाप्रचलित श्रीकृष्णसेवा न तो शास्त्रीय रीतिका अनुसरण करती है और न भक्तिभावात्मिका वह रह गयी है. यह तो केवल जगत्‌को ठगनेके लिये चलायी जा रही एक पुष्टिमार्गीय नोटंकी है. महाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीओंपर सदा ऐसी अपनी कृपा बरसायें कि कोई भी अपने मार्गका अनुगामी धनलालसाके वश, वस्तुतः तो स्वयं अपने अनर्थकी भवितव्यताके वश ही, पुरुषोत्तमका इस तरहका भजन कभी न करे. श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके मतके निरन्तर अभ्यासार्थ कृपा करके जिन्होंने मुझे दीक्षित किया ऐसे मेरे पितृचरण गोस्वामी श्रीदीक्षित( विठ्ठलनाथ )को मैं सदा अपने कृतज्ञताके मनोभावोंके साथ नमन करता हूं.

इस तरह गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहरद्वारा विरचित  
पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारविवरण सम्पूर्ण हुवा

**सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नो भवतु !**

## परिशिष्टम्

॥ श्रीहरिः जयति ॥

### पञ्चामृतस्नानप्रकारः

अथ कदाचिद् भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य दुष्टस्पर्शादिना दोषसम्भवेन स्वमनसि ग्लानौ भक्तिमार्गीयाणां तन्निवृत्तिप्रकारः परम्परागतो लिख्यते :

शुभे दिने भगवदनुकूले पूर्वाभिमुखो वा उत्तराभिमुखो वा निजाचार्यान् मनसि विभाव्य नमस्कृत्य प्राणानायम्य देशकालादीन् संकीर्त्य “भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य दुष्टस्पर्शादिदोषनिवृत्तिद्वारा प्रसन्नतया स्वसेवाकारणार्थं पञ्चामृतस्नानं कारयिष्ये” इति संकल्प्य तदुत्तरं पञ्चामृतद्रव्येषु दुग्ध-दधि-मधु-घृत-शर्कराभिधेषु शंखे च तुलसीं प्रक्षिप्य भगवते च “क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा” (इति) गोपालमन्त्रेण चरणयोः तुलसीं समर्प्य उपवेशनस्थाने च षट्कोणम् उल्लिख्य तदुपरि तेनैव मन्त्रेण चन्दनं तुलसीं च प्रक्षिप्य भगवन्तम् उपवेश्य -

“पयस्वतीरोषधयः पयस्वद् वीरुधां पयः. अपां पयसो यत् पयस्तेन मामिन्द्रः सःसृज” (तैत्ति.संहि.१।५।१०).

“ॐ दधि क्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः. सुराभिर्नो मुखा करत्प्रण आयः षितारिषत्.” (तैत्ति.संहि.१।५।११).

“मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः. माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः. मधु नक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवः रजः. मधु द्यौरस्तु नः पिता. मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाः अस्तु सूर्यः. माध्वीर्गावो भवन्तु नः.” (तैत्ति.संहि.४।२।१९).

“घृतं मिमिक्षिरे घृतमस्य योर्निघृते श्रितो घृतमुवस्य धाम. अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्. समुद्रादूर्मिर्मधुमाः उदारदुपाः शुना सममृतत्वमानद्.” (तैत्ति.आर.१०।१०।२१).

“शुक्रमसि ज्योतिरसि तेजोऽसि देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण

वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रं त्वा शुक्रायां धाम्ने-धाम्ने देवेभ्यो यजुषे-यजुषे गृह्णामि ज्योतिस्त्वा ज्योतिष्यर्चिस्त्वाऽर्चिषि धाम्ने-धाम्ने देवेभ्यो यजुषे-यजुषे गृह्णामि” (तैत्ति.संहि.१।१।१०).

एभिः वैदिकैः मन्त्रैः पूर्वोक्तमन्त्रेण स्नानं कारयित्वा ततः शीतलशंखोदकेन -

“ॐ आपो हिष्ठाः मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन. महेरणाय चक्षसे योवश्शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेहनः उशतीरिव मातरः. तस्मा अरंगमामवो यस्य क्षयाय जिन्वथ आपो जनयथा च नः” (तैत्ति.संहि.४।१।५).

“ॐ हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावका यासु जातः कश्यपो यास्विन्द्रः. अग्निं या गर्भन्दधिरे विरूपास्ता न आपश्शस्योना भवन्तु यासाः राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानुते अवपश्यञ्जनानाम्. मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शस्योना भवन्तु. यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति याः पृथिवीं पयसोन्दन्ति शुक्रास्ता न आपः शस्योना भवन्तु” (तैत्ति.संहि.५।६।१).

“पवमानः सुवर्जनः. पवित्रेण विचर्षणिः. यः पोता स पुनातु मा, पुनन्तु मा देवजनाः. पुनन्तु मनवो धिया. पुनन्तु विश्व आयवः. जातवेदः पवित्रवत्. पवित्रेण पुनाहि मात्.” (तैत्ति.ब्राह्म.१।४।८।१).

“वसवस्त्वा परि गृह्णन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वा परि गृह्णन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽऽदित्यास्त्वा परि गृह्णन्तु जागतेन छन्दसा देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्ति वेधसः.” (तैत्ति.संहि.१।१।१९।१७).

इत्यादिमन्त्रैः पूर्वोक्तमन्त्रेण च स्नापयित्वा सम्प्रोज्झ्य शृंगारादिकं विधाय रक्षां कुर्वत् - तत्र अयं प्रकारः : निजाचार्यान् दैन्येन स्मृत्वा नमस्कृत्य स्वामिन्यो रक्षां कुर्वन्ति इति हृदि विभाव्य भगवतः चरणादिशिरोन्तं प्रत्येकम् अङ्गं स्पृष्ट्वा स्वयं च शुद्धः सन् दक्षिणहस्तेन तत्तदङ्गं स्पृष्ट्वा सर्वत्र रक्षां कुर्यात्.

तत्र पूर्वं “केशव नारायण माधव गोविन्द विष्णु मधुसूदन त्रिविक्रम वामन श्रीधर हृषीकेश पद्मनाभ दामोदर” इति नाममन्त्रैः नमोन्तैः प्रत्येकं चरणादि-शिरोन्तम् अङ्गानि अभिप्लव्य पश्चात् क्रमेण -

“अजाय नमः अजः तव अग्रिम् अव्यात्, अणिमते नमः अणिमान् तव जानूनि अव्यात्, यज्ञाय नमः यज्ञः तव ऊरू अव्यात्, अच्युताय नमः अच्युतः तव कटितटम् अव्यात्, हयास्याय नमः हयास्यः तव जठरम् अव्यात्, विष्णवे नमः विष्णुः तव भुजौ अव्यात्, उरुक्रमाय नमः उरुक्रमः तव मुखम् अव्यात्, ईश्वराय नमः ईश्वरः तव शिरो अव्यात्, चक्रिणे नमः चक्री तव अग्रतो रक्षको अस्तु, सहगदाय हरये नमः सहगदो हरिः तव पश्चाद् रक्षको अस्तु, गृहीतधनुषे मधुघ्ने नमः गृहीतधनुः मधुहा तव दक्षिणपार्श्वे रक्षको अस्तु, असिधराय अजनाय नमः गृहीतासिः अजनः तव वामपार्श्वे रक्षको अस्तु, शंख(धराय) नमः शंख(धरः) तव चतुर्ष्वपि कोणेषु रक्षको अस्तु, उरुगाय उपेन्द्राय नमः उरुगायः उपेन्द्रः तव उपरि रक्षको अस्तु, ताक्ष्याय नमः ताक्ष्यः तव क्षितौ रक्षको अस्तु, हलधराय पुरुषाय नमः हलधरः पुरुषः तव समन्ताद् रक्षको अस्तु, हृषीकेशाय नमः तव इन्द्रियाणि हृषीकेशो अवतु, नारायणाय नमः तव प्राणान् नारायणो अवतु, श्वेतद्वीपतये नमः तव चित्तं श्वेतद्वीपपतिः अवतु, योगेश्वराय नमः तव मनो योगेश्वरो अवतु, पृष्णिगर्भाय नमः तव बुद्धिं पृष्णिगर्भो अवतु, भगवते पराय नमः तव आत्मा भगवान् परो अवतु, गोविन्दाय नमः क्रीडन्तं त्वां गोविन्दः पातु, माधवाय नमः शयानं त्वां माधवः पातु, वैकुण्ठाय नमः व्रजन्तं त्वां वैकुण्ठो अव्यात्, श्रीपतये नमः आसीनं त्वां श्रियः पतिः अव्यात्, यज्ञभुजे सर्वग्रहभयंकराय नमः भुञ्जानं त्वां सर्वग्रहभयंकारो यज्ञभुक् पातु, डाकिन्यो यातुधान्यो अर्भकग्रहाः कूष्माण्डाः भूतप्रेतपिशाचाः यक्षो रक्षो विनायकाः कोटरा-रेवती-ज्येष्ठा-पूतना-मातृकादयः उन्मादाः अपस्माराः देहप्राणेन्द्रियद्रुहः स्वप्नदृष्टा महोत्पाताः वृद्धबालग्रहाः एते सर्वेऽपि त्वत्सम्बन्धिनो विष्णुनामग्रहणभीता स्वयमेव नश्यन्तु.”

एवं प्रत्यङ्गं प्रतिदिशं प्रत्यवस्थं रक्षां विधाय यथाशक्ति दानादिकं दापयित्वा साष्टाङ्गं नमस्कृत्य मातृचरणाः भोजयन्ति इति भावेन दुग्धादिकं भगवते समर्पयेत्.

इति श्रीपुरुषोत्तमचरणसंगृहीत-शुद्धयर्थकपञ्चामृतस्नानादिविधिः\*

\*श्रीपुरुषोत्तमचरणानां निजहस्ताक्षरैः लिखितम् एकपत्रात्मकम् इदं गो.चि.श्रीमन्दारकुमारैः श्रीगङ्गुलालाजीग्रन्थागारे समुपलब्धं प्रकाशनाय प्रदत्तमिति ग्रन्थागाराध्यक्षाय अन्वेषकाय च भूरिशो अभिनन्दनं स्वकार्तृज्ञप्रकाशनपुरस्सरं प्रयच्छामि. सम्पा. गोस्वामिश्याममनोहरः.

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः ॥

समानीय स्वयं हृद्वाद् मूर्तिं सर्वाङ्गशोभनाम् ।  
कृष्णस्य बालकैशोरावस्थापन्नां विशेषतः ॥१॥  
बाल्यस्यैकाकिनीम् अन्यां सद्वितीययाम् अथापि वा ॥  
यतो मूलचरित्रं हि बाल्यकैशोरयोः कृतम् ॥२॥  
स्नापयित्वा तु विधिवत् पञ्चामृतजलादिभिः ॥  
शङ्खेन च ततः पश्चाच् चन्दनेनानुलेपनम् ॥३॥  
पुनर् उष्णजलेनापि स्नापयित्वा तदुत्तरम् ॥  
सम्प्रोक्ष्य सूक्ष्मवस्त्रेण स्थापयेद् आसनोपरि ॥४॥  
प्रार्थयित्वा निजाचार्यान् ध्यात्वा तद्दृढदयस्थितम् ॥  
भावात्मकं प्रभो रूपं सर्वलीलायुतं सदा ॥५॥  
लक्ष्मी-सहस्र-संसेव्यं तापक्लेशयुतात्मना ॥  
बद्ध्वाञ्जलिं तथाभूतः पठेच्च तदनन्तरम् ॥६॥  
“अव्याद् अजोऽङ्घ्रिम् अणिमान्” इत्यादिन्यासपूर्वकम् ॥  
विभाव्य स्वामिनीरक्षां प्रत्यङ्गे स्थापिताङ्गुलिः ॥७॥  
रक्षामिषेण विहितं भावात्मस्थापनं प्रभौ ॥  
स्वाचार्यसंश्रितैस् तद्वन् मूर्तावपि हरिस्थितिः ॥८॥  
इदमेवोक्तम् आचार्यैः भक्तिमार्गप्रकारतः ॥  
“तत्र च स्थितम्” इत्यादि स भावात्मा हरिः स्मृतः ॥९॥  
पठित्वा तु त्रिरावृत्त्या शृङ्गारं रचयेत् तदा ॥  
वस्त्रैराभरणैर् वापि प्रेम्णा सौन्दर्यसूचकैः ॥१०॥  
आस्तीर्य वस्त्रैर् विधिवद् आसनं तत्र भावयेत् ।  
तदुत्तरीयवस्त्राणि ततस् ताम् उपवेशयेत् ॥११॥

“तद्दर्शने”ति तत्रत्यं पद्ययुग्मम् उदीर्य च ॥  
ततः सज्जीकृते सम्यग् ओदनव्यञ्जनादिके ॥१२॥  
भावयित्वा तु तत्रत्य स्वामिनीविहितार्चनम् ॥  
हृदि कृत्वा निजाचार्यान् दैन्यवान् एकतत्परः ॥१३॥  
स्वयं समर्चयेत् कामम् आचार्यद्वारकं जनः ॥  
ताम्बूलम् उत्तमं दद्याद् आचम्य प्रोज्झ्य चाननम् ॥१४॥  
तत उत्थाय च करौ संयोज्य विधिवत् पठेत् ॥  
कृष्णाश्रयाभिधं स्तोत्रं प्रणमेद् दण्डवद् भुवि ॥१५॥  
अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः ॥  
विचार्य वरणं श्रीमदाचार्यपदसंश्रयः ॥१६॥  
स्वसेवकाय शुद्धाय सततं प्रयतात्मने ॥  
प्रयच्छेत् तत्स्वरूपं तु फलरूपतया पुनः ॥१७॥  
भक्तिमार्गस्थितैः श्रीमदाचार्यपदसंश्रितैः ॥  
सेव्यमानं सदाभावैः निरोधं साधयेद् ध्रुवम् ॥१८॥

इति श्रीमद्हरिरायविरचितं स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारं सम्पूर्णम्

## ॥ स्वरूपतारतम्यनिर्णयः ॥

श्रीमदाचार्यप्रतिष्ठापितवैष्णवजननित्यस्थतत्कुलप्रतिष्ठापितवैष्णवजननित्यस्थभगवत्स्वरूपसेवयोः  
तारतम्यम् अस्ति न वा इति विचार्यते.

तत्र श्रीमत्प्रभुचरणप्रादुर्भावकाले तु सेवायां “गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्ध्यै”  
(सिद्धा.मुक्ता.७) इति वाक्योक्तन्यायेन तादृशाधिकारिणां तत्र साक्षात्स्वरूपानुभवो  
जातः इति सर्वसम्मतमेव. इदानीन्तनकाले तत्प्रतिष्ठापितस्वरूपे  
तत्कुलप्रतिष्ठापितस्वरूपे च इदानीन्तनानां कया रीत्या सम्बन्धः इति भवति  
विचारः.

तत्र “प्रत्यक्षा सा न सर्वेषाम्” (सिद्धा.मुक्ता.८) इत्यस्य विवृतौ श्रीमत्प्रभुचरणैः  
उक्तम् “येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि या देवतारूपा सा अस्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव  
सर्वत्र तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामनाविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो  
भवति इति अर्थः” इति दृष्टान्तन्यायेन इदानीन्तनानामपि तत्प्रतिष्ठापितस्वरूपस्य  
तदुक्तमार्गमर्यादया तथाज्ञानपूर्वकम् अछिद्रसेवया देहान्ते अनुग्रहबलेन अलौकिके  
देहे जाते पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यतायां जातायां तत्र तदाविर्भावो भवति. तदा प्रेम-  
आसक्ति-व्यसनक्रमेण स्वाधिकारानुरूपेण स्वमार्गीयं सेवाफलं भवति. अत्रत्य  
क्रमो अग्रे विवेच्यः.

स्वमार्गीयसेवास्वरूपज्ञानाभावे तु श्रद्धापूर्वकं तथा सेवया केवलक्रियया  
प्रपञ्चासक्तिनिवृत्त्यभावात् तत्सम्बन्धानुभावेनैव जन्मान्तरे पुनः तथा भजनेन मुक्तिः  
भवति. तत्रापि “अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् संसारे न भवेत्” (त.दी.नि.२।२१७)  
इति वाक्योक्तन्यायो बाधकएव. तदा सम्बन्धो न जातएव इति ज्ञेयम्. तदिच्छाया  
बलिष्ठत्वात्.

यस्तु तत्कुलप्रतिष्ठापितस्वरूपस्य तदुक्तमार्गमर्यादया सर्वभावेन सर्वदा यावज्जीवं  
सेवां चेत् कुर्यात् तदा तादृशस्यापि स्वाधिकारानुसारेण देहान्ते पूर्वोक्तप्रकारेण  
सेवाफलं भवति इत्यत्र न किञ्चिद् अनुपपन्नम्.

किञ्च, भजनं हि बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधम्, “सेवायां वा कथायां वा”  
(भक्ति.व.९) इति वाक्यात्, “एतद्भजनम् आन्तरं मुख्यम्” (त.दी.नि.प्र.२.२३३)  
इति निबन्धवाक्यात् च. सेवकसाधनसम्पत्त्यभावे श्रीभागवतार्थविचाररूपम् आन्तरमेव  
भजनं निरुपधिसर्वभावेन यावज्जीवं चेत् कुर्यात् तदा तस्यापि स्वाधिकारानुसारेण  
जन्मान्तराव्यवधानेन सेवाफलं भवति इति निर्विवादम्. अतएव एतद्भजनस्य  
मुख्यत्वात्, सेवायां ज्ञानम् आवश्यकम् इति ज्ञेयम्.

यस्तु स्वमार्गीयसेवास्वरूपज्ञानाभाववान् मार्गरीत्या श्रद्धया यथा कथञ्चित्  
स्वरूपसेवां चेत् करोतीति तत्सेवायाः केवलभौतिकत्वात् “लोकार्थी चेद्  
भजेत्कृष्णम्” (सिद्धा.मुक्ता.१६) इति न्यायस्य जातत्वात् तदा सर्वथा संक्लिष्टो



भवति, तदा भजनत्यागः. “क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णम्” (सिद्धा.मुक्ता.१६)  
इति वाक्योक्तन्यायेन क्लेशोऽपि चेद् भजनं कुर्यात्, ‘चेद्’ इति पदेन एतादृशस्य  
दुर्लभत्वम् उक्तं, तदा महत्कृपया लोकनाशो भजनौपयिकपदार्थेषु लौकिकभावनाश  
इति यावत्, तदा जन्मान्तरे शुद्धभजनेन कृतार्थो भविष्यति इति ज्ञेयम्.

अत्र एवं विभेदो ज्ञेयः : श्रीमत्प्रभुचरणप्रादुर्भावकाले स्वरूपबलेनैव सेवाया  
आधिदैविकत्वाद् देहान्ते स्वाधिकारानुसारेण नित्यलीलाप्रवेशएव इति सिद्धान्तः.  
इदानींतनकाले मार्गमर्यादया तथा ज्ञानपूर्वकं सेवाकरणेऽपि उद्वेगादि प्रतिबन्धकस्य  
अवश्यम्भावित्वेन सेवायाः नाधिदैविकत्वं भवति. अतएव सेवाफलग्रन्थे  
श्रीमदाचार्यचरणैः उक्तम् “तदा सेवा नाधिदैविकी इति उक्तं भवति” (से.फ.वि.६)  
इति. परन्तु मार्गमर्यादायाः बलिष्ठत्वाद् आध्यात्मिकी सेवा भवेत्. तत्रापि  
“एतद्देहावसाने तु कृतार्थः स्यात् न संशयः इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत्  
सदा” (त.दी.नि.२।२३४) इति निबन्धोक्तमनोनिश्चयेन सर्वदा सेवा चेद् भवेत्  
तदा देहान्ते अनुग्रहबलेन भाष्योक्तप्रकारेण अलौकिके देहे जाते “परस्परं  
त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्माः” (भाग.पुरा.३।२१।१७) इति न्यायेन  
तादृशसमाजे अहर्निशं तद्गुणानुवादेन आत्मनि अक्षरब्रह्मात्मकत्वज्ञानेन “उपाधिनाशे  
विज्ञाने” (सिद्धा.मुक्ता.१३) इति अनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यतायां  
जातायां तत्र तदाविर्भावो भवति. तदा “आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेद्”  
(सिद्धा.मुक्ता.१६) इति वाक्योक्तप्रकारेण तद्भावनया स्नेहवृद्धौ जातायां सर्वा अपि  
प्रेमावस्था भवन्ति. ततः तद्विना स्थातुम् अशक्त्या अतिशयिततापोदये जाते  
“वाङ्मनसि” (ब्रह्मसू.४।२।१) सूत्रोक्तप्रकारेण वागादिलयानन्तरं  
साक्षात्भगवत्प्रवेशः. ततः तदिच्छानुसारेण तादृशसेवौपयिकदेहप्राप्त्या  
साक्षात्तल्लीलावलोकन-तद्रसानुभवादिकं भवति इति सेवाफलप्राप्तौ क्रमो ज्ञेय  
इति दिक्.

इति श्रीहरिरायविरचितः स्वरूपतारतम्यनिर्णयः

## उद्धृतवचनानुक्रमणिका

|                                                                                       |         |
|---------------------------------------------------------------------------------------|---------|
| ॐ आपो हिष्ठाः मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन<br>(तैत्तिरीयसंहिता : ४।१।५)                    | १५, १९३ |
| ॐ दधि क्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः<br>(तैत्तिरीयसंहिता : १।५।११)             | १५, ५९  |
| ॐ हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावका यासु जातः<br>(तैत्तिरीयसंहिता : ५।६।१)                     | १५, १९४ |
| अचीकलृपन् आसनम् आत्मबन्धवे<br>(भागवतपुराणम् : १०।२९।१३)                               | ५४      |
| अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं प्रमाणं भक्तिहेतुकम्<br>(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : ३।१०।४३)        | ४३      |
| अतः प्रमेयसम्पत्त्या कृष्णासक्तिः हि वर्ण्यते.<br>(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : ३।१०।५९-६०) | ४४      |
| अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्. स भगवन्निष्ठएव<br>(सुबोधिनी : १।१९।१६)                      | ६२      |
| अतो अत्र स्त्रियः प्रकरणान्ते निरूप्यन्ते<br>(सुबोधिनी : १०।१८।५)                     | ५६      |

|                                                                                     |     |
|-------------------------------------------------------------------------------------|-----|
| अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् संसारे न भवेत्<br>( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।२१७ )            | १९९ |
| अत्र हि एते सर्वे एकं भवति<br>( बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।७ )                         | १९  |
| अत्रतु ईश्वरः कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं च समर्थः ईश्वरः<br>( सुबोधिनी : १।१।२ ) | ५८  |
| अथ वेदनपदार्थम् आह 'यो वेद..' इत्यादिना<br>( ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : १।१।११ )       | ५९  |
| अदम्भः सर्वथापेक्षारहितः करुणापरः<br>( स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः : १६ )         | ६७. |
| अनुकूले कलत्रादौ विष्णोः कार्याणि कारयेद<br>( पञ्चश्लोकी : १-४ )                    | २५  |
| अन्यमूर्तिभजने श्रीकृष्णस्य मूलभूतत्वात्<br>( तत्त्वार्थदीपनिबन्धटिप्पणी : २।२२९ )  | ४६  |
| अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च<br>( विवेकधैर्याश्रयः : १४ )                        | ५१  |
| अन्यो हि अन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः<br>( छान्दोग्योपनिषद् : ७।२६।२४ )                   | ५३  |

|                                                                                             |               |
|---------------------------------------------------------------------------------------------|---------------|
| अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्<br>( सुभाषितम् )                                          | २८            |
| अल्प<br>( अष्टाध्यायिपाणिनिसूत्रम् : ५।३।८५ )                                               | ६०            |
| अव्यक्तो 'अक्षरः' इति उक्तः तम् आहुः परमां गतिं<br>( भगवद्गीता : ८।२१ )                     | ५९            |
| अव्याद् अजो अडिग्रम् अणिमान्" इत्यादिन्यासपूर्वकम्<br>( स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः : ७ ) | १९७           |
| अव्याद् अजोऽग्रिमणिमांस्तव जान्वथोरू<br>( भागवतपुराणम् : १०।५।२२-२९ )                       | ४१            |
| असत्संगो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः<br>( सुबोधिनी : १०।८४।२२ )                          | ३२            |
| अहम् आत्मा आत्मनां धातः<br>( भागवतपुराणम् : ३।९।४२ )                                        | ८, ३०, ५८, ६१ |
| आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति<br>( भागवतपुराणम् : ११।२९।६ )                             | १०            |
| आचार्यवान् पुरुषो वेद<br>( छान्दोग्योपनिषद् : ६।४।२ )                                       | १०            |

|                                                                                    |     |
|------------------------------------------------------------------------------------|-----|
| आचार्याद हैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति<br>( छान्दोग्योपनिषद् : ४।९।३ )       | १०  |
| आचार्येणापि आगमएव पञ्चरात्रादिः प्रदर्श्यते<br>( सुबोधिनी : ११।३।४८ )              | १७  |
| आज्ञाय एवं गुणान् दोषान् मया आदिष्टानपि<br>( भागवतपुराणम् : ११।११।३२-४१ )          | ८   |
| आत्मजायासुतादीनां अन्येषां सर्वदेहिनां<br>( भागवतपुराणम् : ७।१५।६५-६६ )            | १८  |
| आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेद<br>( सिद्धान्तमुक्तावली : १६ )             | २०० |
| आत्मा वै जायते पुत्रः<br>( कौषितक्युपनिषद् : )                                     | ५३  |
| आत्मैव इदं सर्वम्<br>( छान्दोग्योपनिषद् : ७।२६।२ )                                 | ५३  |
| आधिदैविकम् अध्यात्मम् अधिभूतम् इति स्मृताः<br>( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।११९-१२० ) | ३   |
| आवश्यकत्वं नाम पूर्वं कथञ्चिद                                                      | ८   |

( सिद्धान्तमुक्तावलीविवतिप्रकाशः : १ )

|                                                                                    |     |
|------------------------------------------------------------------------------------|-----|
| आविर्भूतस्वरूपा निरवधिकसुखब्रह्मभुक्तिस्तु मुक्तिः<br>( तत्त्वमुक्ताकलापः : २।६४ ) | ३६  |
| इयदवधि परम् एतदाशया समभवद<br>( पर्यकार्या : २ )                                    | ४९  |
| ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च<br>( भागवतपुराणम् : ११।२।४६ )                 | ३१  |
| ईश्वरोऽहम् अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी<br>( भगवद्गीता : १६।१४-१५ )              | २२  |
| उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनां... दित्सयैति सुहृदाशिष<br>( भागवतपुराणम् : १०।३२।२३ )    | ३९  |
| उद्गासावाहने अत्र न स्तएव<br>( तत्त्वार्थदीपनिबन्धावरणभङ्गः : २।२२९ )              | ६४  |
| उपाधिनाशे विज्ञाने<br>( सिद्धान्तमुक्तावली : १३ )                                  | २०० |
| उपासनानां ब्रह्मविज्ञानफलकत्वस्य<br>( ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : ३।३।३ )              | ५१  |
| उपासनाविषयेषु अखिलेषु अविशिष्टम्                                                   | ५१  |

|                                                |       |                                                |    |
|------------------------------------------------|-------|------------------------------------------------|----|
| ( ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : ३।३।२ )              |       | एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम्       | ६१ |
|                                                |       | ( बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।३२ )                 |    |
| उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः | १०    | एतादृश्यौ ते तत्साधिके न                       | २७ |
| ( भगवद्गीता : ४।२४ )                           |       | ( सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाशः : १ )              |    |
| एकप्राधान्ये अन्यस्य विभूतित्वम् इति स्थितिः   | १५    | एतैः अन्यैः च वेदोक्तैः वर्तमानः स्वकर्मभिः    | १९ |
| ( तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : ३।३।५ )         |       | ( भागवतपुराणम् : ७।१५।६४-६७ )                  |    |
| एकरसत्वं यथा श्रुतिबलाद निर्णीयते तथा          | ५१    | एवं सति यादृशो अधिकारिणो                       | ५१ |
| ( ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : ३।३।६ )              |       | ( ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : ३।३।७ )              |    |
| एकान्तभक्तिः गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्    | ५३    | ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्                         | २  |
| ( भागवतपुराणम् : ७।७।५५ )                      |       | ( छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।७ )                   |    |
| एकोऽहं 'बहु स्यां प्रजायेय'                    | ३७    | कर्मणः पापस्य निर्हारी दूरीकरणं प्रायश्चित्तम् | २० |
| ( छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३ )                   |       | ( सुबोधिनी : ३।२९।१० )                         |    |
| एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहुः                    | ९, २६ | कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः             | २३ |
| ( सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाशः : २ )              |       | ( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।३१२-३१३ )           |    |
| एतद्देहावसाने तु कृतार्थः स्यात् न संशयः       | २००   | काचिद भगवतः सिद्धिः अस्ति 'राधस्'पदवाच्या.     | ५८ |
| ( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।२३४ )               |       | ( सुबोधिनी : २।४।१४ )                          |    |
| एतद्भजनम् आन्तरं मुख्यम्                       | १९९.  | कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा      | ३० |
| ( तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : २।२३३ )         |       | ( भागवतपुराणम् : १०।८७।४७ )                    |    |

कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवद अवस्तुत्वाद १९  
( भागवतपुराणम् : ७।१५।६३ )

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा ६५  
( भागवतपुराणम् : २।४।१८ )

‘कृष्ण’शब्दो दुष्टमुखाद् निर्गतो मालिन्ययोगात् मलिनमेव वक्ति २८  
( सुबोधिनी : १०।७१।३२ )

कृष्णसेवा सदा काया ८, २७, ५९  
( सिद्धान्तमुक्तावली : १ )

कृष्णस्य बालकैशोरावस्थापन्नां विशेषतः १९९  
( स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः : १ )

कृष्णाश्रयाभिधं स्तोत्रं प्रणमेद दण्डवद भुवि १९८  
( स्वमार्गीयस्वरूपस्थापनप्रकारः : १५ )

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः ३९  
( संन्यासनिर्णयः : ८ )

क्रियायाः फलनिष्पत्तिः यद्व्यापाराद २७  
( सिद्धान्तकौमुदीतत्त्वबोधिनी : १।४।४२ )

क्रीडार्थम् आत्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते २६

( भागवतपुराणम् : ८।२२।२० )

क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णम् १९८.  
( सिद्धान्तमुक्तावली : १६ )

क्लीं कृष्णाय १९३  
( गोपालमन्त्रः )

गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये १९८  
( सिद्धान्तमुक्तावली : ७ )

गणितानन्दकं बृहद् ६०  
( कृष्णाश्रयस्तोत्रम् : ८ )

गृहे सौकर्याभावात् स्वरूपसेवां कर्तुं ३४  
( ८४ वैष्णवन्की वार्ता : ५७।१ )

गोप्यो गावः ऋचः तस्य यष्टिका कमलासनः ५६  
( कृष्णोपनिषद् : ८ )

घृतं मिमिक्षिरे घृतमस्य योर्निघृते श्रितो १५, १९३  
( तैत्तिरीयारण्यकम् : १०।१०।२। )

चकास गोपिपरिषद् गतोर्चित् ४९  
( भागवतपुराणम् : १०।२९।१४ )

चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयम्. ४



(सुबोधिनी : २।६।३६)

चित्रमात्रेऽपि सेवा स्यात् प्रतिबन्धे गुरोः गिरा  
(साधनदीपिका : ८२)

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा  
(सिद्धान्तमुक्तावली : २)

जगन्नाथे विट्टले च श्रीरङ्गे वेंकटे तथा  
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।२५५)

‘जनशिक्षा...’इति. लोके सदानन्दभक्तिकता  
(श्रीविट्ठलरायात्मजवल्लभानां विवृतिः)

जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद  
(सर्वोत्तमस्तोत्रम् : १२)

जय जय जहि अजाम्, अजित!, दोषगृभीतगुणाम्  
(भागवतपुराणम् : १०।८४।१४)

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति  
(संन्यासनिर्णयः : २०)

तं गोरजच्छरीत...  
(भागवतपुराणम् : १०।१२।४२)

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरम् आश्रितानाम्

(भागवतपुराणम् : ११।२९।५-६)

तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति  
(मुद्रलोपनिषद् : ३।३)

तत्र अशक्तौ तन्त्रोक्तप्रकारेणापि कृष्णमेव भजेत्  
(सुबोधिनी : ११।३।४७)

तत्र च अन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्या इति गीयते  
(तन्त्रवार्तिकम् : १।२।४)

तत्र च स्थितम्  
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।२२८)

तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति  
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : २।२२९)

तत्रापि शीघ्रहृदयग्रन्थिविभेदकः  
(सुबोधिनी : ११।३।४७)

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो  
(भागवतपुराणम् : १०।२९।१४)

तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा  
(सिद्धान्तमुक्तावली : २)

तत् (भक्ति)परिपाकदशायान्तु ... भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम् ९

(सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिप्रकाशः : २)

तत् त्वम् असि ३२, ३५  
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।७)

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् १, ४५  
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।२२८)

तदर्थं वरणं कार्यं श्रीगोपालमहामनोः १२  
(साधनदीपिका : ५६-५८)

तदा सेवानाधिदैविकी इति उक्तं भवति १९९  
(सेवाफलविवरणम् : ६)

तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' ३५  
(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१०)

तद्रसप्रवेशे निरोधः सिद्धः... साधकानां न तद भवेद ५६  
(सुबोधिनी : १०।१८।५-७)

तद ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय १९  
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३)

तद धाम परमं मम ५३  
(भगवद्गीता : १५।६)

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो ४६, ६४, १९७

(भागवतपुराणम् : १०।२९।१३)

तम् अद्भुतं बालकम् अम्बुजेक्षणम् ३८  
(भागवतपुराणम् : १०।३।९-१०)

तव यद्यद् रूपं भक्ताः विभायन्ति तत्तद् वपुः २३  
(सुबोधिनी : ३।९।११)

तस्मात् श्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनाद ११  
(श्रीवल्लभाष्टकस्तोत्रम् : ३)

तस्माद मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ३६  
(भागवतपुराणम् : ११।२०।३१-३३)

तादृशस्य भगवतो रतिरासो भवेद ५७  
(सुबोधिनी : ३।७।१८)

तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ६१  
(पुष्टिप्रवाहमर्यादा : १३)

तासां आविरभूद् ३९, ४४  
(भागवतपुराणम् : १०।२९।२)

तुलसिका भगवतः आभरणं... ५५  
(सुबोधिनी : ३।१५।१९)

तुलसीशंखतोयेन गायत्र्या अस्मिन् निधाय च १२

(साधनदीपिका : ११०)

ते नाधीतश्रुतिगणाः नोपासीतमहत्तमाः ५  
(भागवतपुराणम् : ११।१२।७-१५)

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज ४६  
(भागवतपुराणम् : ३।९।११)

त्वयि ते इमे ततो विविधनामगुणैः ५०  
(भागवतपुराणम् : १०।८४।३१)

दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः २५  
(नवरत्नप्रकाशः : १)

दाने हि न स्वविनियोगः नतु नतु निवेदने २४  
(नवरत्नप्रकाशः : २)

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोः ३५  
(भागवतपुराणम् : १०।८४।२१)

देवकीजठरभूरुडराजः ४२  
(भागवतपुराणम् : १०।५। )

देशतः कालतः योऽसौ अवस्थातः स्वतो अन्यतो ६१  
(भागवतपुराणम् : ३।७।५)

द्वेषरागयोरपि मोक्षसाधकत्वं जातम् ३०

(सुबोधिनी : १०।२६।१५)

न खलु गोपिकानन्दनो भवान् ३९  
(भागवतपुराणम् : १०।२८।४)

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः २८  
(भागवतपुराणम् : ११।२।५१-५२)

नतु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा २  
(भगवद्गीता : ११।८)

ननु एषा कथं हन्तव्या यतो गुणवती सुषुप्तौ ३८  
(सुबोधिनी : १०।८४।१४)

ननु पुरुषोत्तमस्वरूपात् तत्र को विशेषः इति चेत् ६०  
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : २।९९-१००)

ननु सतां हितकरणं भवतु नाम परं स्वयम् ६७  
(श्रीहरिरायकृता सर्वोत्तमस्तोत्रविवृतिः)

नन्दस्त्वात्मज ३९, ४०  
(भागवतपुराणम् : १०।५।१)

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय ५८  
(भागवतपुराणम् : २।४।१४)

नवकुंकुमकिञ्जल्कम् ३९, ४३

( भागवतपुराणम् : १०।५। )

नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति  
( बृहदारण्यकोपनिषद् : २।४।५ )

६१

नातः परतरो मन्त्रः नातः परतरः स्तवः  
( निरोधलक्षणम् : २० )

५०

नामार्थयोः अभेदो हि वेदोऽपि हरिनाम हि  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : ३।६।४१-४२ )

३४

निर्गुणस्य भक्तियोगस्य तत् लक्षणं  
( सुबोधिनी : ३।२९।१२ )

३२

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः भगवतो नृप!  
( भागवतपुराणम् : १०।२६।१४-१६ )

४६

नैव आत्मनः प्रभुः अयं निजलाभपूर्णः  
( भागवतपुराणम् : ७।९।११ )

५५

पञ्चामृतेन भावात्म-रूपेणाति-प्रियेण ते  
( श्रीमत्प्रभुचरणविरचितानि सेवापद्यानि )

१६

पयस्वतीरोषधयः पयस्वद वीरुधां पयः  
( तैत्तिरीयसंहिता : १।५।१० )

१४, १९३

परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्माः

२००

( भागवतपुराणम् : ३।२१।१७ )

परात्मनो विधिना न विभूत्यादिभजनप्रकारेण  
( सुबोधिनी : ११।३।४७ )

१७

परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति  
( मुण्डकोपनिषद् : ३।२।७ )

५०

पवमानः सुवर्जनः पवित्रेण विचर्षणिः  
( तैत्तिरीयब्राह्मणम् : १।४।८।१ )

१६, १९४

पिता चरेद यथा बाले सुखं भक्ते तथा हरिः  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।३१५-३१७ )

२३

पुरुषएव इदं सर्वम्  
( पुरुषसूक्त.२ )

२

प्रकृतेऽपि यद्रूपोपासनाप्रकरण  
( ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : ३।३।३ )

५२

प्रत्यक्षा सा न सर्वेषाम्  
( सिद्धान्तमुक्तावली : ८ )

१९८

प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः  
( सुबोधिनी : २।९।३२ )

४८

प्रपञ्चो भगवत्कार्यः तद्रूपो माययाऽभवत्

३७

( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।२३ )

प्रपत्तिमार्गस्य भक्तिमार्गानुकल्पत्वाद् २०  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशावरणभङ्गः : २।२५५ )

प्रमेयेन निरोधो अत्र कर्तव्यो हरिणा भृशम् ४८  
( सुबोधिनी : १०।४०।१७ )

प्रसीद पूजितो भक्त्या तुलस्या प्रियगन्धया ५५  
( भाष्यप्रकाशरश्मिपरिशिष्टम् : ६८ )

प्राकृताः सकलाः देवाः गणितानन्दकं बृहत् ५२  
( कृष्णाश्रयस्तोत्रम् : ८ )

प्रार्थये रसिकाः स्वैरं पश्यन्तु इदम् अहर्निशम् ४९  
( शृंगारसमण्डनम् : )

प्रिया-प्रत्यंग-सौन्दर्य-माधुर्य-समतां गतम् १६  
( श्रीमत्प्रभुचरणविरचितानि सेवापद्यानि )

प्रिया-स्नेहैक-रूपेण घृतेन ब्रजनायक १६  
( श्रीमत्प्रभुचरणविरचितानि सेवापद्यानि )

प्रिया-हास्य-प्रभा-तुल्य-रूपेण पयसा गवाम् १६  
( श्रीमत्प्रभुचरणविरचितानि सेवापद्यानि )

प्रियाधरामृत-स्पन्द-मधुरेण महाप्रभो १६

( श्रीमत्प्रभुचरणविरचितानि सेवापद्यानि )

प्रीतिस्तु भगवद्धर्म भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यः ४२, ६२  
( सुबोधिनी : २।२।७ )

प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः १२  
( भक्तिहंसः )

प्रेम्णा सेवातु सर्वत्र सेव्यवश्यत्वसाधनम् २४  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।३२३ )

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारम् ३९, ४३  
( भागवतपुराणम् : १०।२१।५ )

बीजदार्यप्रकारस्तु ... अत्र गृहस्थानविधानेन ६३  
( श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृता भक्तिवर्धिनीविवृतिः : २ )

बीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा १९, २४, २९  
( भक्तिवर्धिनी : २ )

ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि २, ४५  
( बृहदारण्यकोपनिषद् : १।६।१-३ )

ब्रह्मरूपं जगद ज्ञातव्यं जगतो व्यतिरिच्यते ५२  
( सुबोधिनी : २।९।३५ )

ब्रह्मविदाप्नोति परं, तदेषा अभ्युक्ता ५४



( तैत्तिरीयोपनिषद् : २।१ )

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः  
( सिद्धान्तरहस्यम् : २ )

ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।५०-५१ )

ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् न भक्तिविलास  
( सुबोधिनी : १०।२६।३९ )

भक्तानां दुःखनाशाय कृष्णावतरणं मतम्  
( सुबोधिनी : १०।११।१७ )

भक्तानाम् अनुग्रहार्थमेव भक्तसमानरूपं देहम् आस्थितः  
( सुबोधिनी : १०।३०।३७ )

भक्तिः चेत् स्वानुभावं न प्रकाशयते यदा  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : ३।९।२७-२८ )

भगवते कृष्णाय  
( ब्रह्मसम्बन्धमन्त्रः )

भरोसो दृढं इन चरणन केरा  
( नित्यके पद दीनता आश्रय )

भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति

( तैत्तिरीयारण्यकम् : ३।१४।१ )

भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृद  
( सर्वोत्तमस्तोत्रम् : २२ )

भूतानि विष्णुः भुवनानि विष्णुः वनानि  
( विष्णुपुराणम् : २।१२।२८ )

भेदः पारमार्थिकः इति शास्त्रं पुरस्कृत्य  
( सुबोधिनी : ३।३२।३७ )

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः  
( तैत्तिरीयसंहिता : ४।२।९ )

मनुष्या वा ऋषिषु उत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन्  
( निरुक्तनिघण्टुः : १३।१।१२ )

मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिः  
( भक्तिहंसमंगलाचरणम् )

मन्त्रोऽपि एकः तस्य नामानि यानि  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।४ )

माम् एकं शरणं ब्रज  
( भगवद्गीता : १८।६६ )

मार्गद्वयेन अनर्थनिवृत्तिः भक्तिमार्गेण ज्ञानमार्गेण च.

( तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : ३।३।५८ )

|                                                                                  |        |
|----------------------------------------------------------------------------------|--------|
| माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां<br>( साधनदीपिका : ९ )                      | २९     |
| यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले<br>( निरोधलक्षणम् : १-२ )                | २४, ५० |
| यत् पत्यपत्यसुहृदाम् अनुवृत्तिः अंग<br>( भागवतपुराणम् : १०।२६।३२-३३ )            | ४९     |
| यथा नटः स्त्रीरूपं प्रकटयन् बहिर्मुखैः<br>( सुबोधिनी : १।८।१८-१९ )               | ४७     |
| यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनम्<br>( भगवद्गीता : १८।३९ )                          | ३७     |
| यदा भगवान् शक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्य<br>( सुबोधिनी : २।९।१३ )       | ४७, ६० |
| यद्यद्विद्या त उरुगाय विभायन्ति तत्तद वपुः<br>( भागवतपुराणम् : ३।९।११ )          | २३     |
| यद्यपि स्वभक्तेषु पूर्वोक्तैः स्वनामभिः<br>( श्रीगोकुलनाथकृता सर्वोत्तमविवृतिः ) | ६७     |
| यद ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम् :                                      | १९     |

( भागवतपुराणम् : ७।१५।६४ )

|                                                                                          |       |
|------------------------------------------------------------------------------------------|-------|
| यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः<br>( मुण्डकोपनिषद् : ३।२।३ )                                    | ५५    |
| यया स्वप्नं भयं शोकं... धृतिः सा पार्थ तामसी<br>( भगवद्गीता : १८।३५ )                    | ३७    |
| यावद देहो अयम् तावद वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः<br>( सुबोधिनी : ३।१८।२ )                  | ६     |
| ये केचिद् यथाकथाञ्चिद् भवन्तु नाम<br>( सुबोधिनी : ३।३२।२२ )                              | ५५    |
| ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्<br>( भगवद्गीता : ४।११ )                      | ५, ४६ |
| येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि या देवतारूपा सा अस्तीति<br>( सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिः : ८ ) | १९८   |
| यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति. भूमैव सुखम्<br>( छान्दोग्योपनिषद् : ७।२३।१ )     | ३६    |
| योगनिद्रा त्वया लीलयायैव गृहीता<br>( सुबोधिनी : १०।८४।१४ )                               | ३७    |
| योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः                                                            | ५४    |

( भागवतपुराणम् : १०।२९।१४ )

योहि प्रभुः भवति स स्वगृहे तिष्ठति नतु अन्यगृह  
( सुबोधिनी : १०।३८।१२ )

योऽपि अनिषिद्धो भोगः सोऽपि  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : प्र.२।२३८ )

रसो वै सः” इति श्रुत्या स रसात्मतयोदितः  
( स्वमार्गीयमूलस्वरूपनिरूपणम् : १७-१८ )

रसो वै सः” इति श्रुत्या  
( ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : ३।३।१० )

रसो वै सः. रसं...लब्ध्वा  
( तैत्तिरीयोपनिषद् : २।७ )

राधिकास्यामृत-कर-चन्द्रिका-विशदेन वै  
( श्रीमत्प्रभुचरणविरचितानि सेवापद्यानि )

रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।१ )

रूपेण मोक्षदः प्रोक्तो रसेन आनन्ददायकः  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : ३।६।८-११ )

लब्धानुग्रहम् आचार्याद ... एवं सप्तविधा भक्तिः

( साधनदीपिका : २४-३० )

लोकार्थी चेद भजेत्कृष्णम्  
( सिद्धान्तमुक्तावली : १६ )

लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु न अन्यथा  
( पुष्टिप्रवाहमर्यादा : २०-२१ )

वसवस्त्वा परि गृह्णन्तु गायत्रेण छन्दसा  
( तैत्तिरीयसंहिता : १।१।९।१७ )

वस्तुतस्तु आनन्दमयएव... न पुरुषोत्तमाद भिन्नतया  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : २।१००-१०४ )

वस्तुतस्तु सर्वस्य भगवदीयत्वेऽपि...रमणाथ  
( सिद्धान्तरहस्यम् : २ )

वाङ्मनसि  
( ब्रह्मसूत्रम् : ४।२।१ )

विकल्पएव एषां स्थानानां... भगवत्सान्निध्यप्रयोजकः  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशावरणभङ्गः : २।२५५ )

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते  
( भागवतपुराणम् : १०।२८।५ )

वैष्णवीकरणं कुर्यात् पूर्वं... मूर्तिमन्त्रेण साधकः

( विष्वक्सेनसंहिता : १६।२२ )

शालग्रामं न स्पृशेत्तु हीनवणा  
( वारा.पुरा. । । )

शास्त्रेणैव तरतमभावेन ज्ञानानि निरूपितानि  
( सुबोधिनी : ११।२।४६ )

शास्त्रे सर्वथा हेयत्वेन उक्ताः गृहाः  
( ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : ३।३।३९ )

शिलानाम् अधिवासार्थं... स्नपनार्थं  
( श्रीप्रश्नसंहिता : ६।३१-४१ )

शुक्रमसि ज्योतिरसि तेजोऽसि देवो वः  
( तैत्तिरीयसंहिता : १।१।१० )

शृङ्गारएव सर्वे रसाः  
( सुबोधिनी : १०।१८।२२ )

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती  
( भागवतपुराणम् : ११।२७।१२ )

श्रवणादिनवकमपि अधिकारभेदेन क्रियमाणं सत्  
( भक्तिहंसः )

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : ३।१।१ )

श्रीगोपालमन्त्र अष्टाक्षर पञ्चाक्षर के श्रवन कराये  
( श्रीकृष्णसागर : १११० )

श्यामं हिरण्यपरिधिं  
( भागवतपुराणम् : १०।२०।२२ )

स वै नैव रेमे स द्वितीयम् ऐच्छद्  
( बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।३ )

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः  
( भागवतपुराणम् : ९।४।१८-१९ )

सएव परमकाष्ठापन्नः कदाचिद् जगदुद्धारार्थम्  
( तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : १।१ )

सकृदेव प्रपन्नाय 'तवास्मि' इति याचते  
( वाल्मिकिरामायणम् : ६।१८।३३-३४ )

समर्पणेन आत्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्  
( बालबोधः : १८-१९ )

सर्वकारणानां पुरुषादीनामपि ... अक्षरमपि भगवतः  
( सुबोधिनी : ३।११।४१ )

|                                                                                  |        |
|----------------------------------------------------------------------------------|--------|
| सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः<br>(चतुश्लोकी : १)                             | ४९, ५० |
| सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षत<br>(भगवद्गीता : १८।२०)                    | १८     |
| सर्वरूपेषु मिथः सर्वधर्माणाम् उपसंहारः<br>(ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् : ३।३।७)        | ५२     |
| सर्वलीलाः पुष्टिमध्ये प्रविशन्तीति मे मतिः<br>(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : ३।६।९८-९९) | ३८     |
| सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः<br>(चित्युपनिषद् : १२।७)                             | २, ४५  |
| सर्वेषामपि भूतानां हरिः आत्मा<br>(भागवतपुराणम् : ७।७।४९-५०)                      | ५६     |
| सर्वेषाम् आत्मनाम् अहम् आत्मा...<br>(सुबोधिनी : ३।९।४२)                          | ५७     |
| सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्<br>(तैत्तिरीयारण्यकम् : ३।१३।२)          | १      |
| साकारव्यापकत्वात् च                                                              | ४५     |

(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।२२९)

|                                                                             |     |
|-----------------------------------------------------------------------------|-----|
| साच फलरूपा साधनरूपा च आस्ते.<br>(सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाशः : १)             | ४२  |
| साधकतमं करणम्<br>(अष्टाध्यायिपाणिनिसूत्रम् : १।४।४२)                        | २७  |
| सिन्धुतीरे सरित्कूले ग्रामे वा विपिनादिके<br>(श्रीप्रश्नसंहिता : ५३।१५१-५७) | ६६  |
| सृष्टिन्यासं स्थितिन्यासं संहतिन्यासमेव च<br>(विष्वक्सेनसंहिता : १६।२५-२९)  | १७  |
| सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति<br>(सिद्धान्तरहस्यम् : ८-९)         | ३८  |
| सेवायां वा कथायां वा<br>(भक्तिवर्धिनी : ९)                                  | १९९ |
| सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति...<br>(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।८)                   | ६१  |
| सोऽहं तव अङ्ग्युपगतो अस्मि असतां दुरापं<br>(भागवतपुराणम् : १०।३७।२८)        | ५७  |

|                                                                                            |    |
|--------------------------------------------------------------------------------------------|----|
| स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति 'कृष्ण'पदार्थः<br>( सुबोधिनी : १०।१८।५ )           | ४७ |
| स्नेहाद वश्यो भवेद ध्रुवम<br>( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : ३।६।११ )                             | २३ |
| स्नेहो भक्तिः, 'रतिः देवादिविषयिणी भावः'<br>( तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : १।४२ )          | ६२ |
| स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्मात् च निवर्तनम्<br>( तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः : २।२३८ )       | १८ |
| स्वस्य अयमेव धर्मो हि<br>( चतुःश्लोकी : १-४ )                                              | २४ |
| स्वाश्रमाचारसहित-ब्रह्मानुभवसहित-माहात्म्यज्ञानपूर्वकः<br>( तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : २।१९६ ) | ६  |
| स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेद<br>( साधनदीपिका : १०८ )                                        | २८ |
| स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः<br>( छान्दोग्योपनिषद् : ७।२६।२४ )                                 | ५३ |
| स्वे-स्वे अधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः<br>( भागवतपुराणम् : ११।२१।२-१६ )            | ३६ |

हरिमूर्तिः सदा ध्येया  
( निरोधलक्षणम् : १७ )

२१, ४५, ५६

-----\*



## \*पुष्टि-अस्मिता\*

\*दर्पस्तु भगवदीयतया स्वल्पो मृग्यएव अन्यथा ज्ञानमार्गात् को विशेषः स्यात् ? परम् उद्गतो न अपेक्ष्यते.\*

(सुबोधिनी: १०।६०।२९).

\*जो स्वयं भगवदीय होता है उसे थोड़ा सा तो दर्प हृदयमें रखना ही चाहिये, अन्यथा ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के बीच अन्तर ही क्या रह जायेगा ? इस दर्पको, परन्तु, व्यवहारमें सर्वदा उभारते रहना अर्थात् बाह्यप्रदर्शन अपेक्षित नहीं होता.\*

-----\*

(१) निष्ठाभावे फलं तस्मात् नास्त्येवेति विनिश्चयः, निष्ठाच साधनैरेव न मनोरथ-वार्तया.

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध: १।१८).

(१) कोई भी मार्ग निष्ठाके अभावमें फलप्रद हो ही नहीं पाता. यह निष्ठा फलको पानेके केवल मनोरथ या केवल वाणीविलास के द्वारा नहीं परन्तु साधनोंके अनुष्ठानद्वारा ही प्रकट हो पाती है.

(२/क) यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सो अधमः.

(सुबोधिनी: २।९।१९).

(२/ख) यदैव कृष्णो रोचते तदैव विषयाः न रोचन्ते.

(सुबोधिनी: १।६।२७).

(२/क) जो व्यक्ति स्वार्थवश भगवान्की सेवा करता है उसे तो अधम अधिकारी समझना चाहिये.

(२/ख) जब कृष्ण अच्छा लगना शुरू होता है तो विषय अच्छे लगने बंद होने लगते हैं.

(३/क) गुप्तो हि रसो रसत्वम् आपद्यते.

(सुबोधिनी: १०।१८।५).

(३/ख) अगुप्तस्तु रसाभासः स्यात्.

(सुबोधिनी: १०।५६।४४).

(३/क) रस जब तक गुप्त रहता है तभी तक रस होता है.

(३/ख) जो भाव गुप्त न रह पाया वह तो रसाभास बन जाता है.

(४) लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयम् !

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध: १।१).

(४) जिनकी पत्नी स्वयं श्रीलक्ष्मी हो ऐसे भगवान्को हम क्या दे सकते हैं !

(५) जो ठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं. अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहुं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो.

(घरुवार्ता: प्रसंग ३).

(५) जो व्यक्ति अपने सेव्य-स्वरूपको भेंट किये गये द्रव्यको अपने उपभोगमें लेता है वह मेरा ह्म महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणका सेवक अर्थात् वंशज भी ह्म कभी नहीं हो सकता है. जो मेरा सेवक भगवदीय होगा वह तो कभी भी देवद्रव्य नहीं खायेगा. जो देवद्रव्यका उपभोग करेगा उसे महापतित समझ लेना !

(६) पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं वृत्त्यर्थं नैव युज्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि.

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध: २।२५३-२५४).

(६) प्राण कण्ठमें भी चाहे क्यों न अटक रहे हों श्रीमद्भागवतका पाठ धनोपार्जनार्थ तो कदापि नहीं करना चाहिये ह्म सप्रयत्न सर्वहेतुरहित ही श्रीमद्भागवतका पाठ करना चाहिये.

(७/क)धनाभिनिविष्टचित्ताः न भगवत्सम्मुखा भवन्ति, बालाएव ते स्तनपानव्यग्रा मातरमेव मन्यन्ते.

(सुबोधिनी : ३।१६।२०).

(७/ख)‘लोक’पदेन लौकिको अर्थः उच्यते. तदर्थं चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृर्तुं सर्वं क्लेशरूपमेव.

(सिद्धान्तमुक्तावली. प्रकाशः १६-१७).

(७/क)जिनका चित्त धनमें ही लगा हुआ हो वे कभी भगवत्सम्मुख नहीं हो पाते, वे ऐसे दूधमुहें छोटे बालकोंके जैसे होते हैं जो केवल मांको ही जानते हैं। अर्थात् अपने पिताको जो अभी पहचान न पाये हों.

(७/ख)‘लोक’पदका अर्थ होता है द्वलैकिक विषय. लौकिक विषयोंकी कामना रखनेवाला, यदि श्रीकृष्णभजन करता भी हो और उससे व्यापारकी तरह कुछ प्राप्त भी हो जाये तो वह अनर्थरूप ही होनेसे, उसका किया-धरा सब कुछ क्लेशरूप ही होता है.

(८)यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहिर् आविष्करणं भवति.

(अणुभाष्य : ३।४।४९).

(८)जब तक प्रभु साक्षात् स्वयं हृदयमें नहीं बिराजते तभी तक भावोंका बाह्य प्रदर्शन सम्भव होता है.

(९/क)चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा.

(सिद्धान्तमुक्तावली : २).

(९/ख)बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा...भजेत् कृष्णम्.

(भक्तिवर्धिनी : २).

(९/क)चित्तको भगवान्में तल्लीन बनाना हो तो अपने तन और अपने ही धन से भगवत्सेवा करनी चाहिये.

(९/ख)भक्तिका बीजभाव स्वयं अपने घरमें भगवद्भजन करनेसे दृढ़ होता है.

(१०)तस्मात् श्रीवल्लभाख्य ! त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगाः.

(श्रीवल्लभाष्टक : ३)

(१०)इसलिये हे श्रीवल्लभ ! जो शास्त्रवचनोंका अर्थ आपके वचनसे विपरीत करते हैं उन्हें सहज असुर होनेके कारण केवल अन्धन्तमोनर्कगामी ही जानना चाहिये.